

आयरियं सरणं गच्छामि

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य विभाग

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनू-341306

जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (01581) 226080,244671

ई-मेल : books@jvbharati.org

Books are available online at

<https://books.jvbharati.org>

© जैन विश्व भारती, लाडनू

संस्करण : 2021

मूल्य : 00/- (..... रुपये मात्र)

₹.....

मुद्रक :

AAYRIAM SARNAM GACHAMI
by Sadhvipramukha Kanakprabha

शुभाशंसा

साहित्य ज्ञान का संवाहक होता है। किसी भी संस्कृति को परम्परित बनाए रखने में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। अपेक्षा इस बात की रहती है कि साहित्य प्राणवान हो। वह केवल शब्दों का समूह ही नहीं, वह अपने ठीक निशाने पर वेध करने वाला भी होना चाहिए। वह पाठक के लिए सुबोध और सुग्राह्य भी होना चाहिए। कोई-कोई साहित्य दुर्बोध भी हो सकता है, जिससे पाठक के मस्तिष्क की एक्सरसाइज हो सके और जो कुछ गंभीर अध्येताओं की दृष्टि से ही निर्मित किया गया हो।

हमारे धर्मसंघ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ में साहित्य की सुर-सरिता भी अपनी गति से प्रवहमान है। परमपूज्य आचार्य भिक्षु, परमपूज्य श्रीमद् जयाचार्य, परमपूज्य गुरुदेव आचार्य तुलसी और परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञ आदि के साहित्य को हमारे धर्मसंघ के परिप्रेक्ष्य में महिमामण्डित साहित्य के रूप में देखा जा सकता है।

महाश्रमणी संघमहानिदेशिका असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ने भी हमारे धर्मसंघ की साहित्य-सम्पदा को संवर्धित करने में अपना विशिष्ट योगदान प्रदान किया है। साध्वीप्रमुखाजी हिन्दी, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं की विदुषी है। भाषायी ज्ञान के साथ-साथ उनकी काव्य प्रतिभा भी श्लाघनीय है। साहित्य-सम्पादन में उन्होंने कौशल प्राप्त किया है ऐसा प्रतीत होता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी के साहित्य को प्रकाशनाहं बनाने में उन्होंने अपनी प्रतिभा का भी भरपूर उपयोग किया। तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर दीक्षित हुई साध्वीप्रमुखाजी की साहित्यिक प्रतिभा ने सम्पादन की सीमा पारकर लेखन-सिन्धु में भी अवगाहन किया है। उनकी स्वयं की लिखित पुस्तकें भी हमारे धर्मसंघ के साहित्य-सन्दोह का एक सुन्दर हिस्सा है।

साध्वी-समुदाय आदि के प्रबन्धन-प्रशासन कार्य में पिछले करीब पचास वर्षों से अपनी सेवा अर्पण करने वाली साध्वीप्रमुखाजी का साध्वीप्रमुखा काल का पचासवां वर्ष चल रहा है। इस उपलक्ष्य में मेरे इंगित के अनुसार उनके साहित्य को नए रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। जीवन के नौवें दशक में यात्रायित साध्वीप्रमुखाजी लम्बे काल तक अन्यान्य सेवाओं के साथ साहित्य-जगत की भी सेवा करती रहीं। साध्वीप्रमुखा कार्यकाल के अमृत-महोत्सव के उपलक्ष्य में जुड़ा हुआ, नई विधा से प्रस्तुत होने वाला यह साहित्य वाङ्मय जगत की सुषमा को बढ़ाने वाला और पाठक आदि को यथायोग्य पथदर्शन देने वाला सिद्ध हो। साहित्य के नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण से उनके अमृत महोत्सव की भी उपयोगिता सुष्ठुरूपेण और अधिक सिद्ध हो, मंगलकामना।

7 सितम्बर, 2021
भीलवाड़ा

आचार्य महाश्रमण

पुरोवाक्

जह दीवा दीवसतं पदिप्पदी, सो य दीप्पती दीवो।
दीवसमा आयरिया, दीप्पंति परं च दीवेंति।।

एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल उठते हैं, फिर भी उसकी रोशनी कम नहीं होती। वह स्वयं प्रदीप्त होता रहता है। आचार्य दीपक के समान होते हैं वे स्वयं आचार के तेज से प्रदीप्त होते हुए अपने शिष्यों को भी प्रेरित करते रहते हैं।

साधना के मार्ग पर चलने वाला शिष्य कहीं स्खलित हो जाता है, शिथिल हो जाता है तो आचार्य अपने मधुर और निपुण वचनों से उसे पुनः सत्पथ पर ले आते हैं, जैसे मेघमुनि को भगवान महावीर ने पुनः संयम में स्थिर किया।

तेरापंथ के आचार्यों ने अपने आचार-कौशल और अनुशासन-कौशल से धर्मसंघ को जो ऊंचाइयां दी हैं, उसकी संक्षिप्त झलक पाने के लिए 'आयरियं सरणं गच्छामि' पुस्तक उपयोगी बने, यह अभीष्ट है।

गुरु में सागर जैसी गहराई और मेरु जैसी ऊँचाई होती है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि गुरु सागर और सुमेरु होते हैं। सागर की अनेक विशेषताएं होती हैं। वह अपनी सीमा में रहता है। छोटी-बड़ी सभी नदियों को स्वयं में समाहित कर लेता है। उसमें शंख, सीप, मोती आदि मूल्यवान वस्तुएं होती हैं। वह छोटे-बड़े सब प्रकार के प्राणियों को आश्रय देता है। गुरु सागर की तरह महान होते हैं। शिष्य कभी कुशिष्य हो सकते हैं, पर महान गुरु कभी अपनी गुरुता को नहीं छोड़ते।

अनुक्रम

शुभाशंसा	3
पुरोवाक्	5
1. विलक्षण साहस : विलक्षण इतिहास	9
2. नई दिशा में प्रवास	15
3. तेरापंथ के सूत्रधार	18
4. सृजन चेतना के प्रतीक	21
5. अनुशासन पुरुष : जयाचार्य	31
6. जयाचार्य के तीन रूप	35
7. विलक्षण गुरु के विलक्षण शिष्य	39
8. प्रज्ञा के मूर्तिमान प्रतीक	47
9. नई शताब्दी के मार्गदर्शक	51
10. कालजयी साहित्य के सर्जक	57
11. पॉलीमेथ से अग्रिम शिखरगामी	60
12. महासागर से निकला प्रज्ञासागर	65
13. दुर्लभ त्रयी के संगम	72
14. अनिर्वचनीय व्यक्तित्व के धनी	74
युगप्रधान आचार्य तुलसी	
1. युगप्रधान आचार्य तुलसी	79
2. महान परिव्राजक	84
3. महान समाज-सुधारक	87
4. महान प्रवचनकार	93

5. महान संगीतज्ञ	95
6. महान साहित्यकार	97
7. साहित्यकारों का निर्माण	100
8. महान क्रान्तिकारी	102
9. अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक	106
10. अमर घोषों का उद्घोषक	113
11. महान स्वप्नद्रष्टा	123
12. समस्याओं के समाधान में आचार्य तुलसी का योगदान	133
13. दलितों/अछूतों के मसीहा	142
14. पद-विसर्जन का महान आदर्श	148
15. सम्मान, पुरस्कार और अलंकरण	151

परिशिष्ट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय	154
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य	158
साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य	162

1. विलक्षण साहस : विलक्षण इतिहास

राजस्थान प्रदेश का जोधपुर संभाग किसी समय जोधपुर राज्य कहलाता था। मारवाड़ के नाम से प्रसिद्ध जोधपुर राज्य के बगड़ी नगर की घटना है। वहा स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य रुघनाथजी प्रवास कर रहे थे। शिष्य साधुओं का एक बड़ा समुदाय उनके साथ था।

आचार्यश्री के कुछ शिष्यों के मन में उद्वेलन था। वह उद्वेलन नया नहीं था। लगभग पिछले वर्ष से उनका मानस-मंथन चल रहा था। उस मानस-मंथन से उनके गुरु भी अपरिचित नहीं थे। गुरु-शिष्य के बीच समय-समय पर उस विषय में संवाद होता रहता था। संवाद की पृष्ठभूमि थी तत्कालीन साधु-संन्यासी के संदर्भ में पनपनेवाली विडम्बनाएं। उन विडम्बनाओं को लेकर सन्त भीखणजी का मन समाहित नहीं था।

एक निमित्त : एक संकल्प

अपने गुरु के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन करते समय सन्त भीखणजी की जिज्ञासाएं मुखर हुईं। उनका समाधान भी मिला, पर सन्तोष नहीं हुआ। वि.सं. 1915 में राजनगर (मेवाड़) के कुछ श्रावक साध्वाचार को लेकर संदिग्ध हो गए। उनको समझाने के लिए आचार्य रुघनाथजी ने अपने प्रबुद्ध सन्त भीखणजी आदि पांच साधुओं को राजनगर जाने का निर्देश दिया। वे राजनगर पहुंचे। श्रावकों के साथ संक्षिप्त चर्चा हुई। सन्त भीखणजी की साधना अथवा बातचीत करने के प्रभावी तरीके ने श्रावकों को अभिभूत कर लिया। हालांकि उनके सन्देहों का यथेष्ट निराकरण नहीं हो पाया, फिर भी उन्होंने प्राथमिक रूप में पूरी अनुकूलता का परिचय दिया।

नियति का विचित्र योग। सन्त भीखणजी उसी रात तीव्र ज्वर से आक्रान्त हो गए। शरीर का ताप मन तक पहुंचा। मन में उथल-पुथल-सी मच गई। उन्होंने सोचा—‘साध्वाचार के सम्बन्ध में श्रावकों के तर्क सही प्रतीत हो रहे हैं। इसके बावजूद मैंने उनको स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया। यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाए तो मुझे दुर्गति से कौन बचाएगा? क्या मतपक्ष का व्यामोह मुझे त्राण दे पाएगा। इस प्रकार पश्चात्ताप की आग में तपकर कुन्दन बने मन को मजबूत बनाकर उन्होंने संकल्प किया—‘यदि मैं इस अस्वस्थता से मुक्त हुआ तो निष्पक्ष भाव से सत्य को स्वीकार करूंगा।’

सन्त भीखणजी के संकल्प में आत्मबल था और जिनवाणी पर श्रद्धा का बल था। उसके बाद धीरे-धीरे ज्वर का असर मंद होने लगा। प्रातःकाल तक स्थिति सामान्य हो गई। सूर्योदय के समय कुछ श्रावक दर्शन करने आए। सन्त भीखणजी ने अपना निश्चय उन्हें बता दिया और कहा—‘आपके साथ प्रथम बार में जो चर्चा हुई, उस पर मैं एक बार पुनः विचार करना चाहता हूं। अपने विचारों को आगमों की कसौटी पर कसने के बाद ही मैं किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहता हूं।’ यह बात सुन श्रावक बहुत प्रसन्न हुए। सन्त भीखणजी के प्रति उनके मन में जो विश्वास था, वह और अधिक पुष्ट हो गया।

चिन्तन फलित नहीं हुआ

सन्त भीखणजी ने राजनगर चातुर्मास का अधिकतम समय आगमों के पारायण में लगाया। श्रद्धा और आचार, दोनों दृष्टियों से उन्होंने आगम-मंथन किया। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो गया। उन्होंने अपने साथी सन्तों के साथ खुलकर विचार-विमर्श किया। चारों सन्त उनके विचारों से सहमत हो गए। चातुर्मास के अन्त में उन्होंने तत्त्वज्ञ श्रावकों के सामने अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा—‘श्रावको! आप लोगों का चिन्तन सही है। मुझे लगता है कि हम लोग मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में भटक रहे हैं। पर इसके लिए आपको धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद आचार्यश्री के दर्शन होने पर मैं उनके सामने सही स्थिति निवेदन करूंगा। पूरी संभावना है कि वे इस विषय में ध्यान देकर शुद्ध विचार की दिशा में कोई ठोस कदम उठाएं।’ श्रावक लोग यह बात सुनकर आश्चस्त हो गए।

सन्त भीखणजी ने जो सोचा, वह फलित नहीं हुआ। उनके गुरु आचार-विचार की बात में सहमत नहीं थे। उनका अभिमत था कि पांचवें आरे में जितना साधुत्व पल जाए उतना ही अच्छा है। इस आधार पर उन्होंने राजनगर के श्रावकों के समक्ष अपने शिष्य द्वारा दिए गए निर्णय पर नाराजगी व्यक्त की। सन्त भीखणजी का इरादा अपने गुरु से अलग होने या कोई नया संघ बनाने का नहीं था। उन्होंने अनुनय-विनय कर गुरु को अनुकूल बनाने का प्रयास किया। पर उनके मन में सन्देह की जो फांस लग गई, वह निकल नहीं पाई। फलतः उन शिष्यों के प्रति उनका विश्वास कम हो गया।

सन्त भीखणजी अवसर देखकर समय-समय पर अपने गुरु के साथ जैन साधुओं के आचार-विचार को चर्चा का विषय बनाते रहे, किन्तु उन्हें सन्तोषजनक समाधान नहीं मिलने से उन्होंने अपना रास्ता बदलने का निश्चय किया। उस निश्चय से पहले उनकी कई साधुओं से बातचीत हुई। कुछ साधु सन्त भीखणजी के विचारों से सहमत थे। उनके साथ बैठकर उन्होंने एक योजना बनाई और वे उपयुक्त समय पर उसे क्रियान्वित करने के लिए कटिबद्ध हो गए।

एक क्रान्तिकारी अभियान

सन्त भीखणजी के मन में साध्वाचार के संदर्भ में पनपनेवाली विडम्बनाओं के चक्रव्यूह से बाहर निकलने की तीव्र उत्कंठा थी। वह उत्कंठा समुद्री ज्वार की तरह उनके शरीर की हर कोशिका और आत्मा के असंख्य प्रदेशों में व्याप्त हो गई। उसे भीतर समेटकर रखने की स्थिति असह्य हो जाने पर उसकी आहट बाहर तक सुनाई देने लगी। उसे भी सुनकर अनसुना किया जाने लगा तो उसके साथ क्रान्ति की सुगबुगाहट शुरू हो गई। आखिर एक दिन ऐसा आया जब उस क्रान्ति की गूँज स्थानक से बाहर तक पहुंच गई। वह दिन था वि. सं 1817 चैत्र शुक्ला नवमी (रामनवमी) का।

सन्त भीखणजी ने अपनी वैचारिक यात्रा के साथी चार सन्तों के साथ अपने गुरु आचार्य रुघनाथजी महाराज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर एक नई दिशा में कदम बढ़ाए। उन दस कदमों की गति ने इतिहास की धारा बदल दी। उस समय के जैन सम्प्रदायों के इतिहास में एक नया अध्याय

रच दिया। उस अध्याय का प्रथम पृष्ठ लिखने वाले वे क्रान्तिकारी मुनि थे—सन्त भीखणजी, मुनि टोकरजी, मुनि हरनाथजी, मुनि वीरभाणजी और मुनि भारमलजी।

इतिहास बातों से नहीं रचा जाता। उसे पढ़ना सरल है, पर गढ़ना बहुत मुश्किल है। वह पढ़ने में रोचक और रोमांचक हो सकता है, पर उसकी आधारशिला रचने में साहस, धैर्य, सहिष्णुता और अपने-आपको खपा देने का पुष्ट संकल्प अपेक्षित है।

सन्त भीखणजी के नेतृत्व में उठे क्रान्ति के उन कदमों को थामने की हिम्मत बगड़ी नगर में नहीं थी। पूरे शहर में ऐसा कोई स्थान नहीं था, जो क्रान्ति की लहर को झेल सके। संभवतः इसीलिए स्थानकवासी समाज के सेवक द्वारा यह घोषणा करा दी गई कि भीखणजी को ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं दिया जाए। यदि किसी ने इस निर्देश का अतिक्रमण किया तो वह दोषी कहलाएगा और उसे समाज द्वारा दंडित किया जाएगा।

सन्त भीखणजी इस घोषणा से न घबराए और न सहमे। शायद उन्हें इस स्थिति का पहले से ही अनुमान था। उन्होंने अपने साथी मुनियों के साथ बगड़ी से विहार कर अन्य गांव में जाने के लिए प्रस्थान किया। संभव है, क्रान्ति की उस लहर का यों अदीठ हो जाना प्रकृति को मंजूर नहीं था। सन्त शहर के बाहर तक ही पहुंचे थे कि अचानक तेज आंधी आई। उसके कारण धरती से उठी धूल आकाश में चारों ओर परिव्याप्त हो गई। दिन में भी अंधेरा-सा छा गया। उस स्थिति में सन्तों को शहर छोड़कर जाने का इरादा बदलना पड़ा।

क्रान्ति का पहला पड़ाव

सन्त भीखणजी की प्रज्ञा जागृत थी। उनकी बुद्धि औत्पत्तिकी थी। इसी बुद्धि बल से वे गृहस्थ जीवन में कई समस्याओं का हल निकाल चुके थे। कभी मनोवैज्ञानिक तरीके से, कभी यौक्तिक ढंग से और कभी अपने साहस से व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों स्तरों पर उपस्थित कठिनाइयों को निरस्त कर उन्होंने समाज में अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित की थी।

स्थानकवासी सम्प्रदाय से अभिनिष्क्रमण करने के बाद उनके सामने दोहरी समस्या थी—एक ओर शहर में स्थान की दुर्लभता, दूसरी ओर वहां से विहार कर अन्यत्र जाने की प्रतिकूलता। इतो व्याघ्रस्ततस्तटी—इधर व्याघ्र का भय, उधर नदी का खतरा। सन्त भीखणजी उस स्थिति में विचलित नहीं हुए। वे न तो पुनः स्थानक में लौट सकते थे और न साधुचर्या का अतिक्रमण कर आगे जा सकते थे। उन्होंने त्वरित निर्णय लेते हुए अपने साथी सन्तों से कहा—‘आज की रात श्मशान की छत्री में बिताएं तो कैसा रहें? सन्त भीखणजी के मनोबल, धैर्यबल और सूझबूझ का सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने निर्विकल्प भाव से श्मशान की छत्री में रहना स्वीकार कर लिया।

सन्त भीखणजी आदि पांचों मुनि श्मशान में पहुंचे। वहां रात्रिकालीन दृष्टि से स्थान की गवेषणा की। ठाकुर जैतसिंहजी की छत्री का स्थान उपयुक्त था। श्मशान का सन्नाटा भयावह होता जा रहा था, पर अभय आत्मा को भय कैसा? सामान्य लोगों के लिए जो स्थान अन्तिम पड़ाव बनता है, सन्त भीखणजी ने अपनी नई यात्रा का प्रथम पड़ाव उसी स्थान को बनाया। रात्रि के शान्त वातावरण में उन्होंने अपने साथी मुनियों के साथ बैठकर परामर्श किया, भविष्य में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों का आकलन किया और हर मुसीबत को हंसते-हंसते झेलने का दृढ़ निश्चय किया।

एक उभयमुखी प्रयास

आचार्य रुघनाथजी ने यह नहीं सोचा था कि उनका योग्यतम प्रिय शिष्य उन्हें इस प्रकार छोड़कर चला जाएगा। उनकी यह भी कल्पना नहीं थी कि उनके चार अन्य शिष्य किसी क्रान्तिकारी अभियान में भीखणजी का साथ देंगे। यद्यपि उन्हें यह आशंका तो थी कि शिष्य भीखण बार-बार आचार, विचार और व्यवहार की चर्चा करेगा तो दूसरे साधु भी संदिग्ध हो सकते हैं। इसी कारण उन्होंने वि.सं. 1816 के चातुर्मास में सन्त भीखणजी को अपने साथ नहीं रखा। सन्त भीखणजी द्वारा किया गया साथ रहने का अनुरोध भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

सन्त भीखणजी आदि पांच सन्तों द्वारा संघ-त्याग की घटना ने आचार्य रुघनाथजी को आहत कर दिया। उन्हें समझाने के लिए वे ठाकुर जैतसिंहजी

की छत्री तक पहुंचे। उन्होंने प्रियता के साथ कहा—‘भीखण! तुम कठोर साधु चर्या की बात करते हो, पर थोड़ा सोचो और समझने का प्रयास करो। इस कलिकाल में कठोर चर्या की बात निभ नहीं सकती। तुम अपना आग्रह छोड़ो और मेरे साथ पुनः स्थानक में चलो।’ आचार्यश्री की युक्ति से अपनी असहमति प्रकट करते हुए सन्त भीखणजी बोले—‘आपने पहले भी मुझे इसी तर्क के आधार पर समझाया था, पर वो बात मेरे गले नहीं उतरी। मेरा एक ही निवेदन है कि समय के बहाने शिथिलाचार को प्रश्रय देना साधनापक्ष को कमजोर करना है। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि आज भी जिनाज्ञा के अनुसार शुद्ध संयम का पालन संभव है। यदि इस बात को स्वीकार कर साधु की जीवन शैली में परिवर्तन करें तो अब भी आप पूर्ववत् हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य हैं, अन्यथा हमें अपनी साधना करने दीजिए।’

सन्त भीखणजी की इतनी स्पष्टोक्ति ने आचार्य रुघनाथजी महाराज को निराश कर दिया। उनका दिल भर गया और आंखें नम हो गईं। सन्त भीखणजी इस स्थिति में भी मजबूत रहे। उन्होंने सोचा—मैंने दीक्षा ग्रहण की, उस दिन मेरी मां ने भी आंसू बहाए थे। मैं उनके मोह में नहीं फंसा तो अब इनके मोह से विचलित होकर कमजोर क्यों बनूं।

अपनी प्रियता और मोहाकुलता को निष्फल होते देख आचार्य रुघनाथजी ने कठोर रुख अपनाया। वे रुखे शब्दों में बोले—‘अच्छा, तो अब तू भी देखना। आगे तू है और पीछे मैं हूं। तरे पीछे इतने लोगों को लगा दूंगा कि तू फिर याद करता ही रहेगा।’

सन्त भीखणजी ने आचार्य रुघनाथजी द्वारा दी गई चुनौती को भी सकारात्मक रूप में लिया। उन्होंने अपनी नई यात्रा के प्रारंभ में पूर्व गुरु द्वारा कहे गए बोलों को आशीर्वाद माना। वे सम्यक चारित्र की आराधना करने के लिए कृतसंकल्प थे। अपने संकल्प को साधने के लिए वे निर्भीक होकर चले। एक अज्ञात ऊबड़-खाबड़ और बिभीषिकाओं से भरा रास्ता भविष्य में प्रशस्त राजपथ बनकर लाखों-लाखों लोगों को आत्मसाधना की दिशा में अग्रसर करता रहेगा, यह उस समय किसने जाना था।

2. नई दिशा में प्रवास

पचीस वर्ष पहले संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक में संस्कृत के कुछ श्लोक पढ़े थे। उनमें राम, सूर्य, अगस्त्य और कामदेव की सफलता का रहस्योद्घाटन करने वाली एक पंक्ति थी—**क्रियासिद्धि सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।** महापुरुषों की कार्य सिद्धि उनके सत्त्व में होती है। उनके पास उपकरण सामग्री कम हो या न हो, उससे उनकी सफलता में कोई अन्तर नहीं आता।

राम के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने पांव-पांव चलकर समुद्र को पार किया और वानर सेना के सहयोग से रावण को जीता।

सूर्य के बारे में यह बात प्रसिद्ध है कि उसके रथ में एक चक्का है और सारथि लंगड़ा है। फिर भी वह इस अन्तहीन आकाश में निरंतर घूमता रहता है।

अगस्त्य ऋषि के बारे में पौराणिक मान्यता है कि घड़े में जन्म लेने वाला, हरिणों से घिरा रहने वाला और छाल के वस्त्र पहनने वाला एक वनवासी ऋषि तीन चुल्लुओं में पूरे समुद्र का पानी पी गया।

कामदेव का धनुष फूलों का है और प्रत्यंचा भ्रमरों से बनी है। बाण के नाम पर उनके पास केवल कटाक्ष है। इतनी साधारण सामग्री से भी उसने पूरे संसार को व्याकुल कर रखा है। इससे यह आस्था प्रगाढ़ होती है कि जिसको काम करना होता है, वह कभी सामग्री की प्रतीक्षा नहीं करता। बहुत साधारण उपकरणों के सहारे भी व्यक्ति कीर्तिमान स्थापित कर सकता है, अगर वह मजबूत इच्छाशक्ति को काम में लेना जानता है।

धर्मक्रान्ति का प्रारंभ

आचार्य भिक्षु की उपकरण सामग्री भी बहुत साधारण थी। पर उसे

लेकर वे कभी रुके नहीं। उनके मार्ग में अनेक बाधाएं आईं, पर वे झुके नहीं। साधनों की कमी और बाधाओं का ढेर। फिर भी उन्होंने जो काम किया, वे ही कर सकते थे। उनका कर्तृत्व समाज की दृष्टि से जितना मुखर था, धार्मिक क्षेत्र में भी उतना ही प्रभावी था। उनकी मेधा विलक्षण थी। उनके पास अनुभवों की अखूट सम्पदा थी। विक्रम संवत् 1808 में वे गृहस्थी छोड़कर साधु बन गए। साधु जीवन की तेजस्विता को प्रखर करने के लिए उन्होंने धर्मक्रान्ति की। उनकी धर्मक्रान्ति का विरोध हुआ। क्रान्ति को स्वीकार करने की बात वास्तव में बहुत कठिन होती है। कोई भी युग हो, कोई भी व्यक्ति हो, और कोई भी क्षेत्र हो, क्रान्ति की चिंगारी को दबाने या बुझाने की कार्रवाई की जाती है। किन्तु जब वह शोला बनकर भड़क उठती है तो उचित-अनुचित किसी भी तरीके से उसे कुचलने का प्रयास शुरू हो जाता है।

धर्मक्रान्ति की पृष्ठभूमि

प्रश्न उठता है कि आचार्य भिक्षु ने जानते हुए भी आपदाओं का पथ क्यों चुना? वे अपने गुरु के प्रिय शिष्य थे। उनकी प्रतिभा का गुरु पर प्रभाव था। वे अपने गुरु के सब शिष्यों में योग्यतम माने जाते थे। उनके वैराग्य की लोगों के मन पर छाप थी। लोगों को समझाने का तरीका अद्भुत था। यह संभावना विश्वास में बदल चुकी थी कि अपने पूज्य गुरु रघुनाथजी महाराज के उत्तराधिकारी वे ही थे। एक प्रतिष्ठाप्राप्त धर्मसंघ का नेतृत्व करते हुए वे उसे कोई भी मोड़ दे सकते थे। उस समय नई मर्यादाओं के प्रवर्तन या प्राचीन मर्यादाओं के संशोधन की प्रक्रिया वे सहजता से पूरी कर सकते थे। वे यह बात समझते नहीं थे, इस तथ्य में भी सचाई नहीं लगती। सब कुछ जानते-समझते हुए भी उन्होंने संघर्षों को निमन्त्रण दिया। उन्होंने ऐसा क्यों किया? यह प्रश्न अनुत्तरित तो नहीं है, पर आश्चर्य पैदा करने वाला अवश्य है।

आचार्य भिक्षु महान् आध्यात्मिक व्यक्ति थे। वे जिस लक्ष्य से घर छोड़कर आए थे, उससे पूर्णतः प्रतिबद्ध थे। लक्ष्य की सतत स्मृति के दर्पण में उन्होंने देखा—

- साधुओं के लिए बनाए हुए स्थानकों का उपयोग होता है।
- साधु पुस्तक, पात्र, उपाश्रय आदि के क्रय-विक्रय में संलग्न रहते हैं।
- साधु गृहस्थ को यह संकल्प कराते हैं कि तू दीक्षा ले तो मेरे पास ही लेना।
- शिष्यों की खरीद-फरोख्त चलती है।
- अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा दी जाती है।
- साधु की निश्रा में रहने वाली पुस्तकों का प्रतिलेखन नहीं किया जाता।
- साधु मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते हैं तथा आहार की मर्यादा के प्रति जागरूक नहीं रहते।

इन सब परिस्थितियों से उनका मन आन्दोलित हो उठा। उन्होंने यह बात अपने गुरु के सामने रखी। गुरु ने अपनी ओर से जो समाधान दिया, उससे उनको संतोष नहीं हुआ। उन्होंने कुछ समय तक प्रतीक्षा की। उन्हें जब यह पक्का विश्वास हो गया कि यहां रहते हुए जीवन की दिशा में परिवर्तन नहीं हो सकेगा। तब उन्होंने धर्मक्रान्ति का झंडा उठाया। उस झंडे को वे किसी दूसरे के कंधे पर रखकर चलना नहीं चाहते थे। नए पथ में संभावित कठिनाइयां भी उनकी दूरदृष्टि से छिपी नहीं थी। फिर भी उन्होंने नए संकल्प के साथ नई दिशा में प्रस्थान कर दिया।

3. तेरापंथ के सूत्रधार

जीवन की धरती पर जो बीज बोया जाता है, वह समय पाकर अंकुरित होता है और पौधा बन जाता है। उस पौधे पर सत्य के फूल खिलते हैं, सुगंधि के ज्वार उमड़ते हैं, आनन्द के गीत उतरते हैं और व्यक्ति सफलता की खुशी से भीग जाता है। हर आदमी चाहता है कि उसका जीवन ऐसा हो। इस चाह को जगाना जितना सहज है, उसे पूरा करना उतना ही कठिन है क्योंकि ऐसी जिन्दगी के लिए चाहिए सकारात्मक दृष्टिकोण और युग के स्रोत से विपरीत दिशा में आगे बढ़ने का साहस। नकारात्मक ढंग से सोचने वाला और अनुस्रोत में बहने वाला अपने जीवन में कोई विशिष्ट काम नहीं कर सकता।

स्कूल के परीक्षा-कक्ष में एक विद्यार्थी पेपर, पेन और कापी लिए बैठा कुछ सोच रहा था, पर लिख नहीं रहा था। परीक्षक ने पुछा—‘प्रश्नपत्र कठिन है क्या? विद्यार्थी सहमता हुआ बोला—प्रश्न तो कठिन नहीं है, उत्तर जरूर कठिन है। प्रश्न चाहे परीक्षक के हों या जिन्दगी के, वे कठिन नहीं होते। कठिन होता है उनका समाधान। जिन्दगी के उभरते हुए सवाल जहां अनुत्तरित रह जाते हैं, वहां जीवन में न फूल खिल सकते हैं और न गीत उतर सकते हैं।

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने अन्तरंग जीवन के सवालों को उभारा ही नहीं, उनका समाधान भी खोजा। उनके मन का हर अनुत्तरित प्रश्न उनकी चेतना को झकझोर देता था। इसलिए जब वे उत्तर खोजने चले तो चलते ही गए, पुनः प्रश्नचिह्नों पर लौटकर नहीं आये। उनकी उस यात्रा के जो भी साक्षी थे, वे उनके प्रति श्रद्धा-प्रणत हो गए। क्योंकि उन्होंने जीवन की अंधेरी घाटी में सत्य का सूरज उगाया था।

आचार्य भिक्षु ने जोधपुर संभाग के एक छोटे से गांव कंटालिया में जन्म लिया। उनका जीवनकाल वि. सं. 1783 से 1860 तक का रहा। वे प्रारम्भ से ही खोजी वृत्ति के व्यक्ति थे। लगभग चौतीस वर्ष की अवस्था तक उन्होंने तत्कालीन धर्म-परम्पराओं को निकटता से देखा और परखा। कई वर्षों तक उन्होंने शास्त्रों का गंभीर अनुशीलन किया, आचरण किया, पर उनका मन आश्वस्त नहीं हुआ। जिनके मार्गदर्शन में वे साधना और अध्ययन कर रहे थे, उनके सामने अपने मन की बेचैनी खोलकर रखी, फिर भी उन्हें समाधान नहीं मिला। वे प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु जब उनको चारों ओर निराशा ही निराशा दिखायी दी तो उन्होंने धर्मक्रान्ति का स्वर प्रस्फुटित किया। यह घटना वि. सं. 1817 चैत्र शुक्ला नवमी की है।

धर्म शाश्वत सत्य है। वह शाश्वत होकर भी चिर नवीन है। वह व्यक्ति को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला है, पर कभी-कभी उसका अपकर्ष भी हो जाता है। धर्म की स्थिति में अपकर्ष के कारण हैं—साम्प्रदायिक संकीर्णता, रूढ़ता और धर्म के प्रायोगिक स्वरूप की उपेक्षा अर्थहीन रूढ़ परम्पराओं और धार्मिक आडम्बरो से जुड़ा हुआ धर्म कभी तेजस्वी नहीं हो सकता। धर्म का सम्बन्ध सीधा आत्मा से है। इस सन्दर्भ में आचार्य भिक्षु ने धर्म और अधर्म को परिभाषित करते हुए कहा—

- त्याग धर्म है, भोग अधर्म है।
- व्रत धर्म है, अव्रत अधर्म है।
- आज्ञा धर्म है, अनाज्ञा अधर्म है।

त्याग, व्रत और आज्ञा को धर्म की कसौटी स्वीकार करने के बाद कोई भी व्यक्ति धार्मिक बन सकता है। अमुक सम्प्रदाय या गुरु को मानने वाला ही धार्मिक है अथवा मोक्ष का अधिकारी है, यह एकाधिकार यहां समाप्त हो जाता है। परम्परावादी लोगों ने धर्म की इस अवधारणा का विरोध किया पर तटस्थ विचारकों को यह चिन्तन बहुत रुचिकर लगा।

ज्योति के स्फुलिंग

आचार्य भिक्षु के विचारों का अनुगमन करने वाले कुछ व्यक्ति इस धर्म-क्रान्ति में उनके साथ हुए और एक नया धर्मसंघ बन गया। तत्कालीन

धर्मसंघों की आन्तरिक स्थितियों का आचार्य भिक्षु को अनुभव था। वे अपने संघ में वैसी परिस्थितियां देखना नहीं चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने कुछ विधान बना दिए—

- धर्मसंघ में एक आचार्य का अनुशासन रहे।
- साधु-साध्वियां आचार्य के अनुशासन में रहें।
- विहार-चातुर्मास आचार्य की आज्ञा से करें।
- शिष्य-शिष्या न बनाएं।
- आचार्य के काम में हस्तक्षेप न करें।
- आचार्य जिसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करें, उसकी आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य करें।
- पद के लिए उम्मीदवार न बनें।

आचार्य भिक्षु ने इन मर्यादाओं का निर्माण किया, पर इन्हें किसी पर थोपा नहीं। सब साधुओं की सहमति से इन्हें धर्मसंघ में लागू किया। वह संघ आज तेरापंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इसके नामकरण का इतिहास जोधपुर से जुड़ा हुआ है। आचार्य भिक्षु ने संख्यात्मक नाम का गुणात्मक विश्लेषण करते हुए कहा—हे प्रभो! यह तेरापंथ। यह पंथ तो प्रभु का है, हम तो इसके पथिक हैं। इस उदात्त दृष्टिकोण को भी जनता ने सहजता से नहीं लिया इसी कारण आचार्य भिक्षु को रोमांचक संघर्षों का मुकाबला करना पड़ा। उनके सामने मकान और भोजन तक की कठिनाई थी, किन्तु उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। चट्टान को तोड़कर आगे बढ़ने वाला उनका पुरुषार्थ जीवन के आखिरी क्षणों तक जागता रहा। वे जब तक जिए, ज्योति बनकर जिये। उस ज्योति के स्फुलिंग आज भी उस पथ पर चलने वालों का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

आचार्य भिक्षु का 'तेरापंथ' धर्मसंघ हमारे देश के धर्म-संगठनों के लिए उदाहरण है। इसका अनुशासन और संगठन बेजोड़ है। इसकी एकसूत्रता अनुपम है। बढ़ती हुई अनुशासनहीनता के इस युग में ऐसे अनुशासित और व्यवस्थित धर्मसंघ को पाकर हम धन्यता से अनुप्राणित हो रहे हैं।

4. सृजन चेतना के प्रतीक

साहित्यकार बनता नहीं, जन्मता है, यह कथन किसी अन्य साहित्यकार के साथ घटित होता है या नहीं, श्रीमज्जयाचार्य पर पूर्ण रूप से सही प्रमाणित होता है। उनमें सहज रचनाधर्मिता थी। सृजन उनकी चेतना का अविभाज्य अंग था। उनकी भावप्रवणता और कल्पनाशक्ति जितनी मुखर थी, शब्दशिल्पन उतना ही सुघड़ था। उन्होंने कविता लिखने का अभ्यास नहीं किया, स्वयं कविता ने उनका वरण किया। उनके अनुभवों की जमीन उर्वरा थी। सिंचन कम मिला या अधिक, उस जमीन पर डाले गए बीजों को अंकुरित होना पड़ा। उनका दृष्टिकोण सकारात्मक था। कोई नकारात्मक बिन्दु उनकी गति का अवरोधक नहीं बना। जिज्ञासाओं के पंख खोलकर वे सत्य के आकाश में उड़ान भरते थे। उन्होंने शब्द को इस प्रकार साध लिया कि वह उनके गंभीर से गंभीर अर्थ का वाहक बन गया। वे जीवन के चित्रपट पर उभरी छोटी-बड़ी हर घटना को कुशलता के साथ शब्दों में उकेर देते थे। सचमुच वे एक महान साहित्यकार थे।

जन्म और दीक्षा

श्रीमज्जयाचार्य का जन्म मारवाड़ के छोटे से गांव 'रोयट' में हुआ था। वि. सं. 1860 आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के दिन वे आये। उनका नाम रखा गया जीतमल। परिवार के लोग प्यार से उन्हें 'जीतू' कहकर पुकारा करते। वे तीन वर्ष के हुए और उनके सिर से पिता आईदानजी गोलछा का साया उठ गया। मां कल्लूजी अपने तीन पुत्रों के साथ किशनगढ़ जाकर रहने लगी। वहां आचार्यश्री भारमलजी का आगमन हुआ। कल्लूजी ने अपने पुत्रों के साथ आचार्यश्री की उपासना और प्रवचन श्रवण का लाभ उठाया।

जयाचार्य बहुत छोटे थे, उस समय एक बार साध्वी अजबूजी (जयाचार्य की बुआजी) रोयट आई। वहां उनका व्याख्यान होता। गांव के लोगों में उनके व्याख्यान का अच्छा प्रभाव था। साध्वीजी ने एक दिन कल्लूजी से पूछा—‘तुम व्याख्यान क्यों नहीं सुनती हो?’ कल्लूजी ने उत्तर दिया—‘जीतू बीमार है। वह कुछ भी खा नहीं सकता। उसके जीने की आशा क्षीण हो रही है।’ साध्वी कल्लूजी बीमार बालक को दर्शन देने गईं। बीमार बालक की आंखों में अद्भुत चमक थी। साध्वीजी ने उनको मंगल मंत्र सुनाया और कल्लूजी से कहा—‘यह बालक रोगमुक्त होकर साधु बने तो तुम बाधक नहीं बनोगी, ऐसा संकल्प स्वीकार कर लो।’ कल्लूजी निःश्वास छोड़ते हुई बोली—‘साध्वीजी! आप साधु बनने की बात कर रही हैं, हमें इसके जीवन की भी आशा नहीं।’ साध्वीजी ने कहा—‘यदि यह जीवित रहे तभी तुम्हारे संकल्प का उपयोग है।’ कल्लूजी ने संकल्प कर लिया। उस क्षण के बाद धीरे-धीरे बालक स्वस्थ हो गया। परिवार में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

वि. सं. 1869 में तेरापंथ धर्मसंघ के दूसरे आचार्यश्री भारमलजी का चातुर्मास जयपुर था। श्राविका कल्लूजी अपने पुत्रों के साथ जयपुर गईं। वहां जीतमल के सबसे बड़े भाई सरूपचंदजी की दीक्षा हुई। चातुर्मास के बाद पौष शुक्ला नवमी को वटवृक्ष के नीचे आचार्य भारमलजी ने दीक्षा-संस्कार संपन्न किया।

इस घटना के बाद बालक जीतमल का मन भी दीक्षा के लिए उतावला हो उठा। उनके मन में वैराग्य का अंकुर पहले ही फूटा हुआ था। अब वे समय को खोना नहीं चाहते थे। मां की आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने आचार्य भारमलजी को निवेदन किया। उनकी योग्यता पर पहले से ही सबको भरोसा था। दीक्षा की स्वीकृति मिल गई। आचार्यवर की आज्ञा से मुनि रायचंदजी ने माघ कृष्णा सप्तमी को उन्हें दीक्षित कर लिया।

दो भाइयों की दीक्षा ने मझले भाई भीमराज के मन को विरक्त कर दिया। उन्होंने साधु बनने का निर्णय लिया तो मां कल्लू भी तैयार हो गईं। आचार्यश्री के सामने उपस्थित हो उन्होंने अपनी भावना प्रकट की। फाल्गुन

कृष्णा एकादशी को उन दोनों की दीक्षा हो गई। डेढ़ महीने की अवधि में पूरा परिवार दीक्षित हो गया।

शिक्षा

आचार्य भारमलजी ने मुनि जीतमल की शिक्षा का दायित्व मुनि हेमराजजी को सौंपा। मुनि हेमराजजी आचार्य भिक्षु के पास दीक्षित वरिष्ठ साधुओं में से एक थे। वे जितने आचारकुशल थे, उतने ही तत्त्ववेत्ता थे। उनकी सन्निधि में मुनि जीतमल साधना के शिखर पर आरोहण कर रहे थे और अपनी प्रज्ञा का जागरण कर रहे थे। वे तत्त्व को गहराई से समझने, आगमों के रहस्यों को पकड़ने और प्रवचनकला में दक्षता प्राप्त करने की दिशा में निरंतर जागरूक रहे।

सं. 1881 में मुनि हेमराजजी का चातुर्मास जयपुर था। उस समय मुनि जीतमल 21वें वर्ष में थे। उस वर्ष उन्होंने संस्कृत का अध्ययन शुरू किया। तब तक तेरापंथ धर्मसंघ में संस्कृत भाषा के अध्ययन का कोई क्रम नहीं था। मुनि जीतमल ने एक नई धारा बहाई। संस्कृत भाषा सीखकर उन्होंने जैन आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन करने में सफलता प्राप्त की।

विकास की यात्रा

इसी वर्ष पौष शुक्ला तृतीया को तृतीय आचार्यश्री रायचंदजी ने मुनि जीतमल को अग्रणी (साधुओं के वर्ग का प्रमुख) बनाकर जनपद-विहार करने का निर्देश दिया। 13 वर्ष तक अग्रणी के रूप में जनपद-विहार कर मुनि जीतमल जनता को सन्मार्ग दिखाते रहे।

वि. सं. 1894 के आषाढ़ महीने में आचार्यश्री रायचंदजी ने मुनि जीतमलजी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर एक प्रकार से तेरापंथ का शासन-सूत्र उन्हें सौंप दिया। मुनि जीतमलजी ने पंद्रह वर्ष तक युवाचार्य के रूप में काम किया। वि. सं. 1908 माघ कृष्णा चतुर्दशी को छोटी रावलिया (उदयपुर) में आचार्यश्री रायचंदजी का स्वर्गारोहण हुआ। उस समय युवाचार्यश्री जीतमलजी थली प्रदेश (बीदासर) में विराज रहे थे। उनको दस दिन बाद आचार्यश्री के स्वर्गगमन का संवाद मिला। उसी दिन वे

औपचारिक रूप में तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य बन गए। आचार्य पद समर्पण की औपचारिकता माघ शुक्ला पूर्णिमा को संपन्न की गई। आचार्य बनने के बाद वे जयाचार्य नाम से अधिक विश्रुत हुए। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ में बहुआयामी विकास किया। उनके युग में संघीयव्यवस्था की दृष्टि से ऐतिहासिक परितर्वन हुए।

श्रीमज्जयाचार्य साधक थे, तपस्वी थे, स्वाध्यायी थे, ध्यानी थे, धर्मसंघ के संचालक थे, कुशल व्यवस्थापक थे और बहुत बड़े साहित्यकार थे। उन्होंने अपने जीवन में साढ़े तीन लाख पद्य प्रमाण साहित्य लिखकर कीर्तिमान स्थापित किया। उनकी साहित्यिक यात्रा ग्यारह वर्ष की अवस्था से ही प्रारंभ हो गई। दीक्षित होने के दो वर्ष बाद ही उन्होंने 'संत गुणमाला' की रचना कर अपने बुजुर्ग संतों को चमत्कृत कर दिया था।

जयाचार्य की साहित्यिक प्रतिभा नैसर्गिक थी। पर अठारह वर्ष की अवस्था तक उसमें कोई उल्लेखनीय स्फुरण नहीं हुई थी। सं. 1878 में ये एक सामान्य साधु की भूमिका में चातुर्मास बिताकर आचार्यश्री रायचन्दजी के दर्शन करने पहुंचे। उस चातुर्मास में उन्होंने एक काष्ठ की पात्री पर रंग-वार्निश किया था। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि पात्र निर्माण-कला में अच्छी योग्यता अर्जित कर सकते हैं। उन्होंने वह पात्री गुरुदेव को दिखाई। गुरुदेव ने उनको प्रोत्साहित किया। पर वहां उपस्थित साध्वी दीपांजी ने व्यंग्य की भाषा में कह दिया—मुनिजी! पात्र को क्या दिखाते हो? पात्र रंगने का काम तो हम साध्वियां भी कर सकती हैं। आप तो किसी आगम ग्रंथ की टीका लिखकर लाते तो आपकी विशेषता होती।' यह बात जयाचार्य के दिल को भीतर तक छू गई। उन्होंने शायद मन ही मन आगम की टीका लिखने का संकल्प कर लिया। अगले वर्ष, जबकि उनकी अवस्था मात्र 19 साल की थी, उन्होंने पन्नवणा जैसे तात्त्विक आगम की राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध व्याख्या लिख डाली। उसके बाद तो उन्होंने अनेक आगमों की पद्यबद्ध व्याख्याएं लिखीं। वे व्याख्याएं 'जोड़' कहलाती हैं। उनमें भगवती सूत्र की जोड़ का परिणाम सबसे अधिक है। 'जोड़' की रचना एक नई और मौलिक विधा थी। इसमें जयाचार्य की बहुश्रुतता और लेखन त्वरता विशेष रूप से स्फुरित दिखाई देती है।

जयाचार्य का साहित्य बहुआयामी है। उन्होंने जिस दिशा में अपने साहित्य की धारा बहाई, वह बहती ही रही। उनके समग्र साहित्य को मुख्य रूप से दस विधाओं में बांटा जा सकता है।

- | | |
|----------------|----------------------|
| 1. साधना | 6. विधान, मर्यादा |
| 2. आख्यान | 7. आगम भाषा |
| 3. संस्मरण | 8. तत्त्वदर्शन |
| 4. जीवनियां | 9. उपदेश |
| 5. स्तुतिकाव्य | 10. न्याय और व्याकरण |

जयाचार्य द्वारा रचित कृतियों की संख्या 126 तक पहुंच जाती है। उनके समय साहित्य का ग्रंथाग्र साढ़े तीन लख पद्यों तक पहुंच जाता है। इनमें सबसे छोटी रचना 'संत गुणमाला है' जिसका ग्रंथाग्र 38 पद्य परिमाण है। बृहत्तम रचनाओं में चार कृतियों का ग्रन्थमान इस प्रकार है—

भगवती की जोड़	60906
उपदेशरत्नकथा कोश	66566
दीर्घ सिद्धांत सार	41791
भ्रम विध्वंसन	10075

जयाचार्य का साहित्य राजस्थानी भाषा में है। उन्होंने गद्य और पद्य—दोनों विधाओं में अपनी लेखनी चलाई। फिर भी उनके गद्य साहित्य की अपेक्षा पद्य साहित्य अधिक समृद्ध है। सभी ग्रंथ उनकी बहुश्रुतता के जीवन्त साक्ष्य हैं। किसी भी तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कल्पना का सहारा नहीं लिया। मूल आगम, उनकी वृत्ति, अन्य ग्रंथ, कहीं भी विषय से संबद्ध वर्णन हो, उसे एकत्र व संकलित करने में उन्होंने अपनी विलक्षण मेधा और अनूठी स्मरण शक्ति का उपयोग किया। उनकी कुछ कृतियां तो ऐसी हैं, जिनके बारे में परमपूज्य आचार्यश्री तुलसी कहा करते थे कि एक-एक कृति पर कई डाक्टरेट की जा सकती है। उन कृतियों को पढ़ते-पढ़ते कई बार ऐसा विचार आता है कि जयाचार्य को किसी दिव्य शक्ति का सहयोग प्राप्त

होना चाहिए अन्यथा एक व्यक्ति इतने काम करते हुए इस प्रकार साहित्य का विशाल भंडार भर नहीं सकता। उनकी प्रज्ञा में इतनी स्फुरणा थी कि सामने आए हुए किसी भी प्रसंग पर उनकी लेखनी चले बिना नहीं रहती थी।

जयाचार्य की कृतियों में एक ओर आगम के गूढ़ रहस्यों का अनावरण हुआ है तो दूसरी ओर जीवनी लेखन की शृंखला काफी लम्बी चली है। तत्त्व की गहराई तक पहुंचने के लिए उन्होंने तात्त्विक विषयों की समीक्षा जिस सूक्ष्मता से की है, वह अपने आपमें महान आश्चर्य का विषय है। संस्मरण विधा में उन्होंने इतने मधुर और बेधक संस्मरण एकत्रित किए हैं, जो तत्त्व बोध और मनस्तोष—दोनों को एक साथ संकलित करने वाले हैं।

जयाचार्य की साहित्यिक साधना किसी विषय की विधा में बंधी नहीं। जो कोई प्रसंग उनके ध्यान में आया, उनके सामने घटित हुआ अथवा स्वाध्याय काल में मन को लुभाने वाला लगा, उन्होंने उसी विषय पर लिखना शुरू कर दिया। जब कभी आत्मालोचन की मनोदशा उन्हें अन्तुर्मुग्धी बनाती, वे स्वयं को सम्बोधित कर लिखने लगते—

जीता! जनम सुधार, तप जप कर तन ताड़्यै।

खिण में ह्वै तन छार, दिन थोड़ा में देखजे॥

जीता! निज दुख जोय, कुण-कुण कष्टज भोगव्या।

अब दिल में अवलोय, ज्यूं सुख लहिए सासता॥

कोई भी साहित्यकार सृजन के क्षणों में नितांत अकेला होता है, पर उसके सृजन में पूरे विश्व की धड़कनें सुनी जा सकती हैं। वास्तव में वही साहित्यकार सफल होता है जो विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसकी रचनाधर्मिता देश और समाज में नए प्राणों का संचार करती हैं। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि जिनसे साहित्यकार की आस्थाएं और संवेदनाएं आहत नहीं होतीं, जिसका दृष्टिकोण नकारात्मक नहीं होता और जो अपनी पहचान खोजते हुए जीवन मूल्यों का आह्वान सुनता रहता है, वह कुछ ऐसा लिख जाता है, जो शताब्दियों, सहस्राब्दियों तक आलोक का वाहक बना रहता है।

जयाचार्य की रचनाधर्मिता इतनी जागरूक थी कि उन्होंने आचार्य भिक्षु द्वारा लिखी गई मर्यादाओं को पद्यों में बांधकर संघीय चेतना में प्राण भर दिया। आचार्य भिक्षु की वाणी का पद्यों में अनुवाद करते समय उन्होंने मर्यादाओं को जो सजीवता दी है, उसका एक उदाहरण है—

सर्व साधु नै साध्वी, भारमलजी रो आण।
 विहार चौमासो करणो तिको, करणो आण प्रमाण॥
 दिख्या देणी ते इणविधे, भारमलजी रै नाम।
 सर्व साधु साध्वियां तणी, मरजादा अभिराम॥
 चेला नै कपड़ा तणी, साताकारिया क्षेत्र नी ताहि।
 आदि केई बहु वस्तु नी, ममता करी मन मांहि॥
 जीव अनन्त मूर्छा थकी, चारित्र ज्ञान गमाय।
 नरक निगोद मांहे गया, इम भाख्यो जिनराय॥
 तिण स्यूं ममत शिष्यादिक तणी मिटावन रो उपाय।
 चारित्र चोखो पालण तणो, उपाय कियो सुखदाय॥

इस प्रकार एक-एक मर्यादा को सीधी और सरल भाषा में बांधकर जयाचार्य ने सब साधु-साध्वियों को नया दृष्टिबोध दिया।

आचार्य भिक्षु जयाचार्य के आराध्य थे। सोते-जागते, भीड़ में, एकांत में वे कभी उन्हें भूलते ही नहीं थे। 'भगवती जोड़' जैसा विशालकाय ग्रंथ, जिसमें पांच सौ गीत हैं, प्रत्येक गीत के अन्तिम पद्य में आचार्य भिक्षु उनकी स्मृतियों में सजीव होकर उतर आते हैं। कैसी भी रागिनी और कोई भी प्रसंग हो, आचार्य भिक्षु की स्मृति के बिना उनका कोई गीत पूरा ही नहीं होता। उनकी अनेक स्फुट रचनाओं में आचार्य भिक्षु की गौरव-गाथा सहज उद्गीत हुई। कुछ रचनाएं तो अत्यंत चामत्कारिक प्रमाणित हुई हैं। उनमें 'विघ्न-हरण', 'मुण्दि मोरा', 'भिक्षु म्हारे प्रगट्याजी' आदि गीत अत्यन्त लोकप्रिय और जन अस्था के केन्द्र बने हुए हैं।

जयाचार्य मनोविज्ञान के विद्यार्थी नहीं थे, फिर भी उन्होंने उसको जितनी सूक्ष्मता से पकड़ा, गहरी संवेदना के बिना वैसी पकड़ संभव नहीं

है। उनके मस्तिष्क में साधुता के कुछ आदर्श थे। उनके आधार पर उन्होंने साधु के श्रेष्ठ स्वभाव का सांगोपांग वर्णन किया। इसी प्रकार उन बुने हुए आदर्शों को उधेड़ने वाले साधु भी उनकी कल्पना के बाहर नहीं थे। ओछे (तुच्छ) स्वभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कितना साफ-साफ लिख दिया—

करे चालतां बात, कहे कोई ते भणी।
 ठीक न कहै, बोलै और, खोडीली प्रकृति नो धणी।
 आहार करतां पूरी जयणा नांय, करै को जतावणी।
 तो पाछो ओड़ो दे जाण, खोडोली प्रकृति नो धणी।
 चूकै पडिलेहण करंत, दीये सीख तै भणी।
 फेरै मुंडा नौ नूर, खोडीली प्रकृति नो धणी।
 एक दिन में बहु बार, करै को जतावणी।
 कहै लागो म्हारै लार, खोडीली प्रकृति नो धणी।

जयाचार्य की एक कृति है 'झीणी-चरचा'। कृति के नाम से ही यह बात स्पष्ट होती है कि इसमें झीने अर्थात् सूक्ष्म तात्त्विक रहस्यों की चर्चा है। इसके बाईस गीतों में नौ तत्त्वों और छह द्रव्यों के आधार पर अनेक तथ्यों का विश्लेषण हुआ है, जो हृदयग्राही होने के साथ-साथ मानसिक एकाग्रता का भी साधन है। कुछ गीत आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित यंत्रों और थोकड़ों को आधार बनाकर लिखे गए हैं।

इस कृति का बीसवां और इक्कीसवां गीत चारित्रिक स्थिरता की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। साधु जब तक छद्मस्थ अवस्था में रहता है, राग और द्वेष की चेतना जागृत रहती है। राग-द्वेष का जनक मोह है। मोह के कारण चेतना विकृत रहती है। जब विकृति का वेग बढ़ता है तो साधु अपनी सीमा और स्वीकृत व्रतों का अतिक्रमण भी कर लेता है। उस स्थिति में स्वयं साधु अधीर हो सकता है। छठे गुणस्थान से साधु जीवन की यात्रा शुरू होती है। छठे से चौदहवें गुणस्थान तक नौ भूमिकाओं में साधु रहता है। बारहवें गुणस्थान में पहुंचने के लिए मोह का क्षय जरूरी है।

मोह क्षीण होने के बाद निश्चित रूप से ऊर्ध्वारोहण होता है। मोक्ष उपलब्ध हो जाता है। बारहवें गुणस्थान की स्थिति उत्कृष्ट साधुत्व की स्थिति है। छोटा गुणस्थान विद्यमान है, छोटी-बड़ी गलती से साधुता का लोप नहीं हो सकता। छोटा गुणस्थान बदलने के कारणों का स्पष्ट उल्लेख करते हुए जयाचार्य ने लिखा है—

नवी दीख्या आवै जिसो रे, दोषण सेवै कोय।
अथवा थाप करै दोष री रै, तो फिरै छोठो गुणठाणो सोय॥

मासी चौमासी दण्ड थी रे, छोठो गुणठाणो न फिरै सोय।
फिरै ऊंधी सरधा तथा थाप सूं रे, बलि जबर दोष थी जोय॥

इस प्रकार की गम्भीर कृतियों को पढ़ने से सम्यक्त्व दृढ़ होता है और चरित्र को निर्मल रखने का लक्ष्य बनता है।

जयाचार्य के साहित्य का एक बड़ा हिस्सा है जैन आगमों पर उनके द्वारा लिखे गए गद्यात्मक भाष्य। उनमें सबसे बड़ा भाष्य है—भगवती की जोड़ भगवती। सूत्र जैन आगमों में सबसे बड़ा आगम है। इसमें हजारों विषय वर्णित हैं। भगवती की जोड़ में पूरे आगम का गहरा मंथन हुआ है। मूल आगम, उसकी वृत्ति, टब्बा और धर्मसिंह मुनि कृत यंत्र को प्रमुख रूप से आधार बनाकर जयाचार्य ने भगवती की जोड़ लिखी है। पर प्रसंगवश आलोच्य विषयों की समीक्षा में उन्होंने अन्य आगमों तथा ग्रंथों का मुक्तभाव से प्रयोग किया। एक-एक विषय की स्पष्टता के लिए दस-पन्द्रह ग्रंथों के प्रमाण एक ओर जयाचार्य की बहुश्रुतता, एकाग्रता और स्मृति-पटुता के जीवंत साक्ष्य हैं तो दूसरी ओर सुखद आश्चर्य होता है कि उस समय में, जबकि अध्ययन की इतनी विधाएं आविर्भूत नहीं थी, उन्होंने रिसर्च की नई दृष्टि कहां से पाई?

जयाचार्य में स्वाध्याय और सृजन की सहज रुचि थी। पर पारम्परिक धारणा के आधार पर साहित्य लिखना उन्हें कभी पसन्द नहीं था। उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर परम्परा से हटकर तथ्यों की स्वतन्त्र समीक्षा की है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण बहुत ऋजु था। जैन आगम उनकी

आस्था के सबसे पहले आधार थे। पूर्ववर्ती विद्वान आचार्यों के प्रति भी उनके मन में सम्मान के भाव थे। फिर भी उन्होंने किसी भी समीक्षणीय बिन्दु को स्वतन्त्र एवं निर्भीक समीक्षा किए बिना नहीं छोड़ा। अपनी बात दृढ़ता से कहने के बाद उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि उनको यह मंतव्य उचित या अनुचित लगा, इस दृष्टि से इसका ऐसा निरूपण किया गया है। पाठकों में से किसी को यह निरूपण युक्तिसंगत न लगे तो उसे मनवाने का कोई आग्रह नहीं है। ऐसी स्थिति में उस प्रसंग को केवल गम्य मानकर छोड़ देना चाहिए।

ज्ञान-विज्ञान की इतनी समृद्धि के बाद विचारों का यह अनाग्रह, दृष्टिकोण की यह ऋजुता एक सत्यान्वेषी व्यक्ति में ही देखी जा सकती है। जयाचार्य उच्च कोटि के साहित्यकार थे, पर उससे पहले वे सत्य के साधक थे। दीपक सोने का हो या मिट्टी का, मूल्य उसकी लौ का होता है। साहित्यकार की चेतना धार्मिक हो या सामाजिक, मूल्य उसकी सत्योन्मुखी निष्ठा का होता है।

जिस साहित्यकार की रचनाएं अपने पाठकों को सत्य से दूर ले जाती हैं, उनके मन में सन्देह उत्पन्न करती हैं या उन्हें भटका देती हैं, वे साहित्यकार कभी शाश्वत के संपादक नहीं बन सकते।

जयाचार्य की चेतना सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थीं। उन्होंने जो कुछ लिखा, नाम, यश और अर्थ प्राप्ति की प्रेरणा से नहीं लिखा। वे सत्य के यात्री थे। सत्य उनकी मंजिल थी। उन्होंने जो कुछ लिखा, सत्य के लिए लिखा। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता है, उनका साहित्य अधिक प्रासंगिक बनता जा रहा है। सन् 1981 में उनके स्वर्गारोहण की एक शताब्दी पूरी हुई। उस उपलक्ष्य में आचार्यश्री तुलसी की प्रेरणा से उनके साहित्य को जनता तक पहुंचाने का एक अभियान चला। प्रारम्भ में उस अभियान की गति काफी तेज थी। इसलिए एक के बाद एक कई अमूल्य ग्रंथ सामने आ गए। समय के अन्तराल से 'जय साहित्य' के सम्पादन की गति कुछ शिथिल-सी हुई है। उसे फिर से वेग देने की अपेक्षा है। जिस दिन उनका समग्र साहित्य सुसंपादित होकर जनता के हाथों में पहुंचेगा, संसार के सामने एक सत्यनिष्ठ साहित्य पुरुष पूरी तरह से उजागर हो सकेगा।

5. अनुशासन पुरुष : जयाचार्य

अनुशासन ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति-चेतना और समूह-चेतना दोनों के लिए उपयोगी है। अनुशासन के बिना न व्यक्ति-चेतना विकसित हो पाती है और न समूह-चेतना। अन्तर है तो केवल इतना कि व्यक्ति-चेतना का विकास नितान्त आत्मानुशासन पर निर्भर है जबकि समूह चेतना के लिए व्यवस्थागत अनुशासन भी अपेक्षित है। जो व्यक्ति समूह में रहते हुए भी अनुशासन की अपेक्षा करते हैं वे सफल जीवन नहीं जी सकते। अनुशासन का सूत्र मानव-चेतना द्वारा सरजा हुआ नहीं है। यह स्वाभाविक है। जड़ और चेतन सभी तत्त्व अनुशासित रहकर ही उपयोगी बनते हैं। जहां-जहां अनुशासन का अतिक्रमण होता है प्रलय मच जाती है। तटों से अनुशासित नदी का पानी जीवन है। वही नदी अनुशासन की अवहेलना कर तट-बन्धों को तोड़ देती है तो साक्षात् मृत्यु का दृश्य उपस्थित कर देती है।

इलेक्ट्रिक तारों में प्रवहमान विद्युत प्रकाश देती है, कल कारखाने चलाती है, मकान को वातानुकूलित रखती है और भी बहुत काम करती है। वही विद्युत जब तारों के अनुशासन से बाहर हो जाती है तो भयावह रूप धारण कर लेती है। अनुशासित छात्र अपने विद्यालय के गौरव होते हैं। उनका चरित्र व्यक्तिगत सीमा से ऊपर उठकर राष्ट्रीय बन जाता है, किन्तु जो छात्र उच्छृंखल हो जाते हैं, अनुशासनहीन हो जाते हैं, वे अपने विद्यालय के लिए ही नहीं, राष्ट्र के लिए भी अभिशाप बन जाते हैं।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध भी अनुशासन के सूत्र से ही जुड़ा हुआ है। गुरु का वात्सल्य और शिष्य का समर्पण अनुशासन की पृष्ठभूमि पर ही फलित होता है। गुरु अपने शिष्य पर अनुशासन करता है, वह उसके हित की दृष्टि से करता है। शिष्य का समर्पण भी उसके अपने हितों की सुरक्षा है।

ऐसी स्थिति में गुरु का कठोर से कठोर अनुशासन भी विनम्रतापूर्वक स्वीकृत होना चाहिए। आचार्य द्वारा अनुशासित होने पर शिष्य का चिन्तन क्या हो ? इस तथ्य की सूचना देते हुए उत्तराध्ययन में लिखा है—

**जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभोत्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥**

आचार्य मुझ पर कोमल या कठोर शब्दों से जो अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है—ऐसा सोचकर प्रयत्नपूर्वक उनके वचनों को स्वीकार करें।

तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जाचार्य अनुशास्ता और अनुशासित साथ-साथ थे। उनकी अनुशासन कला बेजोड़ थी तो उनका समर्पण भी अद्भुत था। अपने धर्म-गुरु के प्रति तो वे सर्वात्मना समर्पित थे ही, जिनके पास उन्होंने शिक्षा-ग्रहण की, उनके प्रति भी उतना ही समर्पण था। उनके लिए उन्होंने एक शब्द गढ़ा—मम विद्या-गुरु। धर्मसंघ में यह उनका स्वोपज्ञ शब्द था। अपने विद्यागुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन्होंने लिखा—

मुनिवर रे मैं तो बिन्दु समान थो

तुम कियो सिन्धु समान।

मुनिवर्य! मैं तो बिन्दु के समान तुच्छ था। आपने मुझे विद्यादान देकर सिन्धु के समान महान् बना दिया। वे मुनि थे आचार्य भिक्षु के प्रिय शिष्य मुनि हेमराजजी।

जयाचार्य की ग्रहणशीलता अद्भुत थी। प्रमोद भावना उनके रोम-रोम में रमी हुई थी। किसी भी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका से उन्होंने थोड़ा भी पाया, किसी की छोटी-सी विशेषता भी देखी, तो मुक्त भाव से उसका गुणानुवाद किया और उसके प्रति गहरी कृतज्ञता ज्ञापित की। उनका यह समर्पण और विनम्रता आज की पीढ़ी के लिए बहुत-बहुत प्रेरक है। जयाचार्य ने अनुशासन के मूल्य को समझा और उसे संघ में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा—

आण बिना नहीं अंश धर्म नों, सूत्र सिद्धान्त संगीत।

आज्ञा-अनुशासन बिना धर्म का अंश भी नहीं होता। सभी सूत्र और सिद्धान्त यह संगान कर रहे हैं।

अनुशासन के बिना धर्म का अंश क्यों नहीं है? इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए उन्होंने साहित्यिक लालित्य के साथ कुछ पद्यों की रचना की। बहुत ही हृदयस्पर्शी और नई दृष्टि देने वाले हैं वे पद्य—

1. लवणरहित जिम विरस रसवती,
सरस्वती वचन रहीत॥
2. दधि-रहित जिम ओदन कही जै,
भोजन घृत रहीत॥
3. खांडरहित जिम मोदक जाणै,
गंगोदक आधार-रहीत॥
4. मदरहित ऐरावण हस्ती,
ब्राह्मण वेदरहीत॥
5. परिवाररहित जिम नायक नरपति,
पायक शस्त्र रहीत॥
6. फल रहित जिम वृक्ष न शोभे,
भिक्षु तपस्या-रहीत॥
7. वेगरहित न शोभे तुरंगम,
संगम प्रेम रहीत॥
8. वस्त्र रहित श्रृंगार न शोभे,
अलंकार स्वर्ण रहीत॥
6. तिम जिन आज्ञा बिन धर्म न दीपै,
निगम बतावे नीत॥

नमक के बिना रसवती, वाणी के बिना सरस्वती, दही के बिना ओदन, घृत के बिना भोजन, खांड के बिना मोदक, पात्र के बिना गंगोदक, मद के बिना ऐरावण, वेद के बिना ब्राह्मण, परिवार के बिना नायक नरपति, शस्त्र रहित सेना, फल-रहित वृक्ष, तप-रहित भिक्षु, वेग-शून्य घोड़ा, प्रेम-रहित

संगम, वस्त्र के बिना श्रृंगार और स्वर्णरहित अलंकार जैसे सरस या शोभित नहीं होते, वैसे ही तीर्थंकर के अनुशासन के बिना धर्म शोभित नहीं होता। सारे निगम इस नीति की घोषणा करते हैं।

उपर्युक्त पद्यों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जयाचार्य की दृष्टि बहुत सूक्ष्म थी। वे हर तत्त्व की गहराई में जाते थे। ऊपर-ऊपर से देखने पर यह लगता है कि धर्म और अनुशासन का क्या सम्बन्ध हो सकता है? धर्म आत्मा की चीज है और अनुशासन का सम्बन्ध व्यवस्था पक्ष से है। व्यवस्था-तत्त्व को प्रधानता देने से क्या धर्म का मूल्य कम नहीं हो जाता है? ये प्रश्न अस्वाभाविक नहीं हैं। किन्तु सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो अनुशासन और धर्म में कोई अन्तर है ही नहीं। जो जिन-आज्ञा है, वही अनुशासन है और वही धर्म है। आचार्य भिक्षु ने धर्म को परिभाषित करते हुए कहा—भगवान की आज्ञा में धर्म है और आज्ञा से बाहर पाप है। इसका फलितार्थ यही हुआ कि आज्ञा, धर्म और अनुशासन एक ही धारा के तीन बिन्दु हैं।

अनुशासन जयाचार्य का आदर्श था। वे गुरु के अनुशासन को प्रतीक मानते थे। उन्होंने अनुशासन सम्बन्धी घटना-प्रसंगों के उपसंहार में लिखा है—

**कठिन शब्द गुरु सीख दे, ते तो अमरित स्यूं अधिकाया।
भाग्य दिशा भारी हुवे, जब सद्गुरु सीख सवाया॥**

गुरु कठोर वचन से अनुशासन करते हैं, वह अमृत से भी अधिक मधुर होता जब प्रबल भाग्योदय होता है, तभी गुरु अनुशासन करते हैं।

जयाचार्य ने अनुशासन की जो व्याख्या की है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे अनुशासन के महान व्याख्याता थे। उनकी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में उनके द्वारा घोषित अनुशासन की नई दिशाएं उद्घाटित हुईं तो वह इस युग की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी।

6. जयाचार्य के तीन रूप

दो जगत हैं हमारे सामने—एक ज्ञात जगत और दूसरा अज्ञात जगत। स्थूल सत्य ज्ञात होता है। सूक्ष्म सत्य अज्ञात रहता है। सूक्ष्म सत्य का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के जागरण से होता है। अन्तर्दृष्टि जागती है चैतन्य केन्द्रों की निर्मलता से। जयाचार्य ध्यान के सफल प्रयोक्ता थे। ध्यान के अभ्यास से उनके चैतन्य केन्द्र निर्मल हो गए थे। उनकी अन्तर्दृष्टि जाग चुकी थी इसलिए वे सूक्ष्म सत्य को भी पकड़ने में समर्थ थे। उस सूक्ष्म सत्यवेत्ता के विविध रूप थे। मैं उनके तीन रूपों को व्याख्यायित कर रही हूँ।

प्रथम रूप

उनकी दृष्टि में अध्यात्म का प्रतिबिम्ब था। उन्होंने अध्यात्म की ऊंचाई तक पहुंचकर कहा—सम्प्रदाय का मूल्य है पर धर्म का मूल्य उससे भी अधिक है। धर्म के लिए सम्प्रदाय को गौण किया जा सकता है। पर सम्प्रदाय के लिए धर्म को गौण करना किसी भी स्थिति में मान्य नहीं है। आप्तवचन और आप्तचरित्र स्वयं सत्य है। उसके लिए किसी कषोपल की जरूरत नहीं है। पर सत्य के व्यावहारिक पक्ष को अहेतुगम्य कहकर उसके तेज पर आवरण डालना उचित नहीं है। सत्य के साथ जुड़ी हुई वैयक्तिक धारणाएं उसे सम्प्रदाय की परिधि में बांध देती हैं। सम्प्रदाय का व्यामोह व्यक्ति को सत्य से दूर ले जा सकता है इसलिए ऐसा व्यामोह त्याज्य है।

श्रीमज्जयाचार्य ने यह उद्घोषणा तब की थी, जब सम्प्रदाय को धर्म से अधिक मूल्य प्राप्त था। सम्प्रदाय का व्यामोह व्यक्ति को सत्य से परे ले जाता था। धर्म की ओट में सम्प्रदाय के लिए संघर्ष होते थे। सम्प्रदाय की सुरक्षा धर्म की सुरक्षा से भी अधिक महत्वपूर्ण बात थी। उस समय जयाचार्य के क्रान्तिकारी विचारों ने हलचल मचा दी।

द्वितीय रूप

जयाचार्य मानव प्रकृति के कुशल विश्लेषक थे। वे हर व्यक्ति को उसके आन्तरिक चरित्र के आधार पर परखते थे। किस व्यक्ति का स्वभाव अच्छा है और कौन क्षुद्र स्वभाव वाला है? इस तथ्य को उन्होंने बहुत गहराई से पकड़ा। मुनि जीवन स्वीकार करने पर भी कुछ व्यक्ति प्रकृति से विवश होते हैं। उन क्षुद्र प्रकृति वाले व्यक्तियों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा—

- जो स्वार्थ न सधने पर गुरु से भी टेढ़ा चलता है और उनमें अवगुण देखने लगता है।
- जो दूसरों की उतरती बात करता है, मानसिक संकल्पों-विकल्पों में उलझा रहता है और भावना मलिन रखता है।
- जो दिन में बहुत बार गलती करने पर दूसरे के द्वारा सावधान किया जाता है तो कहता है—यह तो मेरे पीछे पड़ा हुआ है।
- जो किसी के द्वारा गलती बताने पर—यह बड़े आए मुझे कहने वाले। 'तुम ही सचेत रहना' आदि व्यंग्योक्तियों का प्रयोग करता है।
- जो स्वयं समूह में नहीं रह सकता और कोई रहता है, उसकी अवगणना करता है।
- जो उल्टी बात बोलता है, वचन में वक्रता रखता है और विवेक-विकल होता है।
- जो छेड़ने पर फुफकारने लगता है, रुष्ट हो जाता है और क्षण-क्षण क्रोध करता है।

इस प्रकार और भी कई बिन्दु हैं जिनके आधार पर जयाचार्य ने क्षुद्र प्रकृति वाले व्यक्ति की पहचान की। इसके समानान्तर उन्होंने उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों को परिभाषित करते हुए लिखा—

- जो स्वार्थ सधने या न सधने पर भी सुगुरु को शिरोमणि मानता है और अपने भावों को सन्तुलित रखता है।

- जो किसी की उतरती बात नहीं करता, मन में संकल्प-विकल्प नहीं लाता और भावना शुद्ध रखता है।
- जो परिमित बोलता है, लज्जाशील है और सबके अनुकूल रहता है।
- जो सुविनीतों से प्रेम करता है और उन्हीं के साथ मंत्री एवं सौहार्द बढ़ाता है।
- जो किसी के द्वारा गलती बताने पर आपने अच्छा किया मुझे सावधान कर दिया, आपका कहना ठीक है, आपने मुझे बहुत अच्छी सलाह दी आदि वाक्यों का प्रयोग करता है।
- जो एक दिन में गलती करने पर किसी के द्वारा सावधान करने पर कहता है—तुम्हारे समान मेरा कौन सज्जन होगा।
- जो सीधी बात बोलता है, जिसके वचन में टेढ़ापन नहीं है, जो सरल और सुविनीत है।

हम जयाचार्य कृत इस विश्लेषण के आधार पर दूसरों के स्वभाव का अध्ययन करें, यह आत्म-विमुखता है। अपने-अपने स्वभाव को इन तथ्यों की कसौटी पर कसकर क्षुद्र प्रकृति को छोड़ उत्तम प्रकृति को विकसित करना अन्तर्मुखता का प्रतीक है।

जयाचार्य धर्म या व्यवहार की धुरी पर ही केन्द्रित नहीं थे। उन्होंने जीवन के सभी पक्षों का सूक्ष्मता से अवगाहन किया। उस क्रम में वे महान कानून-विशेषज्ञ भी थे। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ के संविधान को जो रूप दिया वह विलक्षण है। सैकड़ों-हजारों विधिवेत्ता मिलकर जैसे विधानों का निर्माण नहीं कर सकते वैसे विधान बनाने में वे अकेले समर्थ थे। आचार्य भिक्षु द्वारा बनाए गए विधान उस समय धर्मसंघ पर लागू थे ही। नए विधानों को संघ पर थोपना उन्हें वांछनीय नहीं लगा। वे हर बात को अहिंसात्मक ढंग से सबके गले उतारकर ही उसे विधान का रूप देते थे। मर्यादाओं को कागज पर उतारना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है उन्हें गले उतारना, उनकी उपयोगिता प्रमाणित करना और जिन पर वे मर्यादाएं लागू करनी हैं, उनका हृदय-परिवर्तन करना।

जयाचार्य में ऐसी अद्भुत क्षमता थी, इसीलिए वे अपने युग में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सके। शिष्य-प्रथा की समाप्ति, पुस्तकों का संघीकरण, आहार का सम विभाग आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हैं, जिनके लिए तेरापंथ धर्मसंघ उनका युग-युग तक आभारी रहेगा। उनका यह अभिमत था कि जिन संस्कारों को हमें विकसित करना है वे सहजता से विकसित होते रहें तो व्यवस्था पक्ष अधिक सुदृढ़ रह सकता है। जिस प्रकार मेंढा शांत और सहज भाव से नदी में पानी पीता है, उससे न तो पानी प्रकम्पित होता है और न ही वह गन्दा होता है। इसी प्रकार शांत और सहज रूप से विधानों को धर्मसंघ पर लागू करने की कला में जयाचार्य निष्णात थे। उनके जीवन के किसी भी पक्ष को उजागर किया जाए, वह अपने आप में विशिष्ट रहा है। उनकी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर हम उनकी विशेषताओं का यत्किंचित् भी आकलन कर पाएं तो उससे वर्तमान और भावी पीढ़ी असंदिग्ध रूप से लाभान्वित हो सकेगी।

7. विलक्षण गुरु के विलक्षण शिष्य

भारतीय संस्कृति में संबंधों का अपना दर्शन है। पिता-पुत्र, भाई-भाई, मां-बेटी, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य आदि संबंधों का होना या बनाना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है उस संबंध का अंत तक निर्वाह। स्वार्थ की कच्ची ईंटों पर जहां संबंधों का महल खड़ा होता है, वहां उसके स्थायित्व की निश्चिंतता नहीं होती। **तुम आओ डग एक तो हम आए डग अट्ट**—विनिमय की इस मनोवृत्ति के धरातल पर संबंधों की दीवार ऊंची नहीं उठ सकती। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पारिवारिक विघटन का जो रूप सामने आया है, वह संबंधों के छिछलेपन को ही अभिव्यक्ति देने वाला है।

गुरु-शिष्य का संबंध अन्य सब संबंधों से विलक्षण होता है। यह संबंध कैसे जुड़ता है? कैसे पुष्ट होता है और कब शिखर तक पहुंच जाता है? कुछ पता ही नहीं चलता। यह बात सब गुरुओं और सब शिष्यों पर घटित नहीं होती। कोई-कोई गुरु ऐसे होते हैं, जो शिष्य में वात्सल्य रस उड़ेलकर उसे पूरी तरह से भर देते हैं। इसी प्रकार कोई-कोई शिष्य ऐसे होते हैं, जो जीवनभर गुरु से पाते रहते हैं और उसे बहुगुणित कर दिखा देते हैं। संत कबीर ने ऐसे ही गुरु को लक्षित कर एक दोहा कहा है—

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥

अणुव्रत अनुशास्ता गणाधिपति आचार्यश्री तुलसी और प्रेक्षाध्यान के पुरस्कर्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ को जानने वाले कह सकते हैं कि गुरु-शिष्य का ऐसा उदाहरण विरल ही होता है। जिस दिन किसी प्रेरणा से गुरु का साक्षात्कार हुआ, उसी दिन उनके साथ अद्वैत स्थापित हो गया। यद्यपि उस समय आचार्य तुलसी मुनि तुलसी के रूप में अपने गुरु पूज्य कालूगणी

की छत्रछाया में विकास के रास्ते तय कर रहे थे। फिर भी दस वर्षीय बालक नथमल ने मन ही मन उनके प्रति अपना संपूर्ण समर्पण कर दिया। इस अज्ञात समर्पण का फलित यह हुआ कि कालूगणी के कर-कमलों से दीक्षित होते ही उन्होंने मुनि नथमल की परवरिश का दायित्व मुनि तुलसी को सौंप दिया। मुनि नथमल ने अपनी चिंता के भार से सर्वथा मुक्त होकर मुनि तुलसी के निर्देशन में संयम-जीवन की यात्रा शुरू कर दी। इनके बारे में गुरुदेव प्रायः कहा करते थे—‘नथमलजी बचपन में जितने भोले थे, उतने ही सरल थे। भोला व्यक्ति सरल हो ही, यह नियामकता नहीं है। इनमें दोनों तत्त्वों का विलक्षण एकत्व था। पूज्य कालूगणी ने उनके अध्ययन, अध्यापन और प्रशिक्षण की जिम्मेदारी मुझे सौंपकर निश्चिंतता का अनुभव किया। मैंने इसको गुरुकृपा का प्रसाद माना।’

जिन पर गुरु की दृष्टि टिकी

पूज्य कालूगणी वि.सं. 1993 में मुनि तुलसी को अपना उत्तराधिकार सौंपकर स्वर्गस्थ हो गए। मुनि तुलसी ने आचार्यपद का दायित्व संभालकर संघीय विकास की दृष्टि से व्यक्ति-निर्माण के कार्य पर पूरा ध्यान दिया। आचार्य के सामने जितने महत्वपूर्ण काम होते हैं, उनमें एक काम है भावी व्यवस्था के बारे में सुचिंतित निर्णय। मानसिक स्तर पर ही सही, जब तक यह निर्णय नहीं हो जाता, वे निश्चित नहीं हो सकते। मुनि नथमलजी के बारे में उस समय गुरुदेव ने कोई चिंतन या निर्णय किया हो, यह तो वे ही बता सकते हैं, पर व्यवहार यह कहता है कि वह समय निर्णय के लिए उपयुक्त नहीं था, एक कवि ने लिखा है—

लोहा लाखां चम्मड़ां, पेलां किसा बखाण।

बहू बछेरा डीकरा, नीवड़ियां निवाण॥

गुरुदेव ने भविष्य की व्यवस्था का लक्ष्य बनाकर संघ के सुयोग्य साधुओं पर अपनी दृष्टि टिकाई होगी। कौन साधु कितने प्रतिशत अंक प्राप्त कर सका, यह विश्लेषण दूसरा कोई नहीं कर सकता, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन पर आचार्यश्री की दृष्टि टिकती गई और उतरती गई। जिन पर दृष्टि टिकाकर उनका मन आश्वस्त हुआ, उनमें

एक नाम मुनि नथमलजी का है। मुनि नथमलजी की दीक्षा का प्रथम दशक उनके शैक्षणिक विकास का दशक था। जब तक गुरुदेव ने संघीय दायित्व नहीं संभाला, उनकी हर गतिविधि पर आचार्यश्री का नियंत्रण रहा। वि.सं. 1993 के बाद परिस्थिति ने उनको स्व के प्रति जागरूक होने की दिशा में उत्प्रेरित किया। छह वर्षों तक गुरुदेव का निकट सान्निध्य और अंतरंग पोषण उन्हें मिला। उसमें थोड़ा-सा व्यवधान भी उनके लिए असह्य था, किंतु गुरुदेव ने समय-समय पर उन्हें आश्वस्त करके सहज बना दिया।

तुलसी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी

मुनि नथमलजी की सहजता, सरलता और भोलेपन ने उनको प्रपंचों से मुक्त रखा और वे अधिक से अधिक आत्मकेंद्रित होते गए। आत्मकेंद्रित व्यक्ति अंतर्मुखी बन जाता है। अंतर्मुखता विशिष्ट क्षयोपशम में निमित्त बनती है। घात्यकर्मों के क्षयोपशम से उनके भीतर छिपी शक्ति का प्रस्फोट हुआ। चारित्र की निर्मलता के साथ-साथ उन्होंने ज्ञान-दर्शन के क्षेत्र में अद्भुत विकास किया। अध्ययन की सहज रुचि, कालगुणी का वरद हस्त, विद्यागुरु मुनि तुलसी का मनोवैज्ञानिक अनुशासन और शिष्य का हार्दिक समर्पण। नियति ने इतना सुयोग बनाया कि अज्ञात ज्ञात होने लगा। विकास के बीज उपयुक्त सिंचन पाकर अंकुरित होने लगे। मुनि जीवन के दूसरे दशक में प्रवेश होते ही उनकी चिंतन-क्षमता और निर्णय-क्षमता में नया निखार आ गया। तब से आचार्य तुलसी ने संघीय कार्यों में उनका उपयोग करना शुरू कर दिया।

आचार्यश्री ने संघ की प्रतिभाओं को प्रोत्साहन दिया और विकास के लिए अनुकूल अवसर दिया। उनकी प्रेरणा से संस्कृत और हिन्दी भाषा में अच्छा विकास होने लगा। विकास करने वाले साधु-साध्वियों की लंबी पंक्ति थी। उसमें प्रथम स्थान पर मुनि नथमलजी थे। वि.सं. 2011 में आचार्यश्री बंबई में प्रवास कर रहे थे। भारतीय विद्या भवन में एक विशेष कार्यक्रम था। उसमें हिन्दुस्तान के जाने-माने संस्कृतज्ञ श्री आप्टे आदि शताधिक विद्वान उपस्थित थे। मुनि नथमलजी ने संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह भाषण दिया। संस्कृत विद्वान भाषा सुनकर चकित हो गए। कार्यक्रम संपन्न

हुआ। आचार्यश्री हॉल से बाहर कुछ आगे पधार चुके थे। मुनि नथमलजी कुछ पीछे रह गए। उसी समय पांच-सात प्रोफेसर दौड़े-दौड़े मुनिश्री के पास आए और बोले—‘मुनिजी! आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है?’ मुनिश्री ने उत्तर दिया—‘मैंने तुलसी विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है।’ यह उत्तर सुनकर प्रोफेसर एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। उन्होंने इस विश्वविद्यालय का नाम तक नहीं सुना था। मस्तिष्क पर बहुत जोर डालने पर भी उन्हें कुछ याद नहीं आया। उन्होंने प्रश्न किया—‘मुनिजी! यह विश्वविद्यालय कहां है? हिन्दुस्तान में है या बाहर? हमने तो इसका नाम ही नहीं सुना।’

मुनि नथमलजी ने आगे-आगे चल रहे आचार्यश्री तुलसी की ओर इंगित करते हुए कहा—‘देखिए, हमारा विश्वविद्यालय वह आगे जा रहा है।’ प्रोफेसर देखते ही रह गए। ‘तुलसी विश्वविद्यालय’ और उसके ऐसे विलक्षण विद्यार्थी विद्वद्वर्ग में चर्चा के विषय बन गए।

कृपा और समर्पण का अद्भुत योग

आचार्यवर महाराष्ट्र की यात्रा पर थे। पूना, नारायणगांव आदि क्षेत्रों का स्पर्श करते हुए ‘मंचर’ नामक गांव में पधारे। वे जिस मकान में ठहरे, वहां अनेक पत्र-पत्रिकाएं रखी हुई थीं। उनमें एक मासिक पत्र ‘धर्मदूत’ था। उसे पढ़कर आचार्यवर ने सोचा—‘जैन आगम साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है। उस पर अभी तक विशेष काम नहीं हो पाया। जैन मुनियों की भी उसके प्रति अभिरुचि कम है। इसका कारण उसके आधुनिक ढंग से संपादन का अभाव है। काश! जैन आगमों का सही रूप में संपादन हो। विचार की इस कौंध से नई प्रेरणा जागी। उन्होंने मुनि नथमलजी को बुलाकर कहा—‘देखो, बौद्ध लोग कितने सजग हैं। बौद्ध पिटकों के पुनः संपादन की योजना है। क्या जैन साहित्य के पुनरुद्धार की अपेक्षा नहीं है। जैन आगमों में ऐसी क्या कमी है, जिससे उनका संपादन नहीं हो रहा है? क्या यह काम हम उठा लें?’

मुनि नथमलजी ने आचार्यश्री की वाणी में छिपी हुई वेदना को पढ़ा। इससे उनको अज्ञात प्रेरणा मिली। वे बोले—‘यह काम हमें करना

चाहिए।’ आचार्यश्री ने कहा—‘काम करना होगा।’ मुनिश्री बोले—‘आपकी कृपा होगी तो निश्चित रूप से काम होगा।’ आचार्यश्री ने फिर कहा—‘एक बार फिर सोच लो। इस काम में किसी वेतनभोगी पंडित का सहयोग नहीं मिलेगा।’ मुनिश्री बोले—‘गुरुदेव! इसमें सोचना क्या है? जो आपका संकल्प है, वह अवश्य पूरा होगा।’ उसी दिन रात्रि में प्रार्थना के बाद आचार्यश्री ने साधुओं की सभा में इस विषय की चर्चा की और निर्णय हो गया कि जैन आगमों के संपादन का काम करना है। मुनिश्री ने अनुभव किया कि उन पर आचार्यश्री की विशेष कृपा है और आचार्यश्री ने अनुभव किया कि इतने समर्पित साधुओं के योगदान से कोई भी काम किया जा सकता है। कृपा और समर्पण के उस अद्भुत योग से ही आचार्यश्री के सक्षम सान्निध्य और मुनि नथमलजी के निर्देशन में जैन आगमों के अभूतपूर्व संपादन का कार्य शुरू हो गया।

संघीय जीवन की शुरुआत

तेरापंथ धर्मसंघ संगठन और अनुशासन का प्रतीक है। संगठन की सुदृढ़ता का एक प्रयोग है मर्यादा महोत्सव का आयोजन। तुलसी युग से पहले महोत्सव के अवसर पर साधु-साधवियों की बहुत बड़ी सभाएं नहीं होती थीं। आचार्यवर के युग में यह सिलसिला शुरू हुआ। इस उपक्रम से संघ को पूरी खुराक मिलने लगी। युगीन संदर्भों में साधु-साधवियों को विशेष जानकारी देने के लिए उन्होंने मुनि नथमलजी को वक्तव्य देने का निर्देश दिया। उनके वक्तव्य का अच्छा प्रभाव हुआ। कुछ साधु आचार्यवर के पास पहुंचकर बोले—‘साधवियों की सभा में किसी साधु का बोलना ठीक नहीं है। आपका वक्तव्य महत्वपूर्ण होता है। उससे पहले या पीछे किसी के बोलने की अपेक्षा नहीं है।’ आचार्यश्री ने उनकी बात सुनी। उसके पीछे रही नकारात्मक भावना को पढ़ा और उनको कोई उत्तर नहीं दिया, पर उसके बाद भी वे सामूहिक गोष्ठियों में मुनिश्री का उपयोग करने लगे।

अविस्मरणीय अवदान

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की स्थापना के बाद कुछ मौलिक और महत्वपूर्ण विचार दिए। उन विचारों को तेरापंथ के मौलिक सिद्धांतों के रूप

में निरूपित किया जा सकता है। दान, दया आदि के विषय में विरोधी लोगों ने उनके विचारों को विकृत रूप में प्रस्तुत किया। इस कारण लोग तेरापंथ के नाम से ही घृणा करने लगे। लगभग दो सौ वर्ष पूरे होने जा रहे थे। फिर भी विरोध का वातावरण नहीं बदला। आचार्यवर ने इस स्थिति को गंभीरता से लिया। उन्होंने मुनि नथमलजी को बुलाकर कहा—‘हम जहां कहीं जाते हैं, अच्छा काम करना चाहते हैं, पर हमारी मान्यताएं आड़े आ रही हैं। हमारे अच्छे विचारों को भी लोग पूर्वाग्रहों के संदर्भ में सुनते और पढ़ते हैं। मैं अब अपने प्रवचन की शैली बदलकर बोलूंगा। तुम उसे पकड़ो। श्रीचंदजी रामपुरिया भी ग्रहणशील हैं। उन्हें भी इस काम में जोड़ो। फिर स्वामीजी के विचारों को लेकर स्वतंत्र रूप में कुछ लिखो।’

मुनिश्री के जीवन की एक सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि बीज रूप में थोड़ा-सा संकेत पाकर उसे गहराई से पकड़ना और पूरे विस्तार के साथ प्रस्तुति देना। आचार्यश्री का निर्देश पाकर उन्होंने आचार्य भिक्षु को नए परिप्रेक्ष्य में लिखा। उनका लेखन इतना सशक्त था कि भयंकर विरोध करने वालों को भी कहना पड़ा कि तेरापंथ के सिद्धांत चुटकियों से उड़ने वाले सिद्धांत नहीं हैं। स्थानकवासी संप्रदाय के एक प्रमुख संत ने उपाध्याय अमर मुनि से तेरापंथ के सिद्धांतों की विचित्रता का बयान किया तो अमर मुनि बोले—‘तेरापंथ के सिद्धांत बहुत गहरे हैं।’ उन्होंने इतना कहकर ही विराम नहीं लिया, अपनी पुस्तकों में तेरापंथ के विरोध में लिखे गए अंशों को अपने आप हटा दिया। यह सब अकारण ही नहीं हो गया। ‘भिक्षु विचार दर्शन’ जैसे गंभीर ग्रंथों को पढ़ने के बाद ही ऐसा परिवर्तन हुआ होगा। इस क्षेत्र में मुनिश्री का अवदान अविस्मरणीय रहा है।

अंतरंग संघर्ष के समय सहयोग

एक समय आया, जब तेरापंथ धर्मसंघ में अंतरंग संघर्ष की ऊष्मा बहुत प्रबल हो गई। संघर्ष के पुरोध साधुओं को इस बात का गर्व था कि स्वामीजी के सिद्धांतों को वे जितनी गंभीरता से समझते हैं, नए युग के पढ़े-लिखे साधु नहीं समझ सकते। आचार्यवर उनकी गर्वोक्तियों से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने मुनि नथमलजी को प्रेरणा दी कि वे स्वामीजी का पूरा

साहित्य पढ़ें। मुनिश्री ने साहित्य पढ़ना शुरू किया और उसका तलस्पर्शी अध्ययन कर लिया। आमने-सामने चर्चा का प्रसंग उपस्थित हुआ तो मुनिश्री के यौक्तिक उत्तरों से बड़े-बड़े साधुओं को पसीना आ गया।

अंतरंग संघर्ष के विस्फोट का एक इतिहास गंगापुर के साथ जुड़ा हुआ है। वि.सं. 2012 की बात है। आचार्यवर उज्जैन का चातुर्मास संपन्नकर गंगापुर पधारे। संघ में शीतयुद्ध चल रहा था। भीतर-ही-भीतर तोड़फोड़ हो रही थी। आचार्यश्री उसे समाप्त करना चाहते थे। उसके लिए एक-एक साधु को समझाने का मार्ग पूर्णरूप से प्रशस्त था, किंतु स्थिति ऐसी बन गई कि समझाने और समझने की बात गौण हो गई। आचार्यवर का चिंतन था कि इस स्थिति को दीर्घकालीन बनाना संघ के हित में नहीं है। इसलिए एक धमाका कर देना चाहिए। इस चिंतन की क्रियान्विति के लिए एक 'लेखपत्र' तैयार किया गया। जो साधु उस लेखपत्र को मान्य करें, उस पर हस्ताक्षर करें, वे संघ में और जो हस्ताक्षर न करें, वे संघ से अपने आप बाहर हो जाएंगे। शीत युद्ध समाप्त हो जाएगा।

उस लेखपत्र को सार्वजनिक करने से पहले पूरे संघ का विहंगावलोकन करना आवश्यक था। इस काम में आचार्यवर को सर्वाधिक सहयोग मुनि नथमलजी का मिला। उन्होंने आचार्यश्री के साथ लगभग पूरी रात जागरण कर एक सूची तैयार की। कौन-कौन साधु संघ के प्रति वफादार हैं? किस-किसका विरोधी खेमे की ओर झुकाव है? साध्वियों की क्या स्थिति है? श्रावक-श्राविकाओं की क्या भूमिका रहेगी? इत्यादि प्रश्नों को सामने रखकर पूरा सर्वे किया गया। इस प्रसंग में मुनि चौथमलजी, मुनि बुद्धमलजी आदि का भी योगदान रहा, पर मुनि नथमलजी की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण रही।

अभिनंदन उन अभूतपूर्व क्षणों का

संघीय अंतरंग मामलों की बात हो या अन्य विरोधी संप्रदायों की, लेखन का प्रसंग हो या अभिव्यक्ति का, तर्क का प्रसंग हो या समर्पण का, मुनि नथमलजी ने अपने गुरु के कामों में जिस रूप से हाथ बंटाय़ा, साधारण

शिष्य बंटा नहीं सकता। यही वह कारण रहा होगा, जिसने मुनि नथमलजी को निकाय-सचिव, महाप्रज्ञ अलंकरण, युवाचार्य आदि भूमिकाओं से ऊपर उठकर संघ के शीर्ष तक पहुंचा दिया। आचार्य के गरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद भी गुरु के प्रति वही समर्पण, वही विनम्रता और वही सहजता। धन्य हैं ऐसे शिष्य, जो गुरु की हर इच्छा को अपनी इच्छा मानकर उसे आकार देने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। धन्य हैं ऐसे गुरु, जो अपना सब कुछ अपने शिष्य में संप्रेषित कर शिष्य के विकास को देख अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करते हैं।

8. प्रज्ञा के मूर्तिमान प्रतीक

व्यक्तित्व के निर्माण में अनेक तत्त्वों का योग रहता है। वैज्ञानिक दृष्टि से जीन्स व्यक्तित्व के आधार बनते हैं। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से कर्मों या संस्कारों की व्यक्तित्व-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। व्यवहार के धरातल पर वातावरण, परिस्थिति, भाग्य, पुरुषार्थ आदि अनेक तत्त्वों के योग से व्यक्तित्व का निर्णय करना कठिन है कौन-सा तत्व कितने-कितने प्रतिशत जिम्मेदार है।

आचार्य महाप्रज्ञ का जन्म एक छोटे से गांव में हुआ। नियति ने उन्हें खुले आकाश के नीचे आंख खोलने का अवसर दिया। उनकी शिक्षा-दीक्षा पारिवारिक परिवेश में हुई। विद्यालय में शिक्षा पाने का अवसर उनको नहीं मिला। बचपन में ही उनके बारे में भविष्यवाणी की गई कि यह बालक या तो योगी होगा या राजा बनेगा। उस समय इस बात पर विश्वास करने का कोई आधार नहीं था। पर जैसे एक बीज में बरगद की संभावना छिपी रहती है, वैसे ही महाप्रज्ञजी के जीन्स में योग-साधना तथा प्रशासन के तन्तु गूंथे हुए थे।

जैन/तेरापंथी संतों का सान्निध्य मिला और बालक के भीतर वैराग्य का बीज प्रस्फुटित होने लगा। वैराग्य पुष्ट हुआ, आचार्यश्री कालूगणी व मुनि तुलसी से सम्पर्क-सूत्र जुड़ा और दस वर्ष की अवस्था में अपनी मां के साथ बालक नत्थू दीक्षित हो गया। कच्ची मिट्टी का एक घड़ा आचार्य श्री कालूरामजी को प्राप्त हुआ। उन्होंने उसे पकाने का काम मुनि तुलसी को सौंप दिया। गुजरात के प्रसिद्ध लेखक कुमारपाल भाई देसाई के शब्दों में 'एक अबोध बालक को आचार्यश्री तुलसी ने गढ़ा, उसे भगवान बना सबके सामने प्रस्तुत कर दिया।'

डॉ. मूलचन्द सेठिया के अनुसार 'आचार्यश्री तुलसी की पाठशाला में मुनि नथमलजी पाषाण से देव-प्रतिमा बने। गुरु की गुरुता और शिष्य की पात्रता ने एक बौद्धिक चमत्कार की सृष्टि की।'

यात्रा प्रज्ञा-जागरण की

मुनि तुलसी किशोर अवस्था में थे। उसी समय आचार्यश्री कालूगणी ने नवदीक्षित सन्तों को पढ़ाने और उनके व्यक्तित्व-निर्माण की जिम्मेदारी उन्हें सौंप दी। उनकी पाठशाला 'तुलसी पोशाल' के नाम से प्रसिद्ध थी। मुनि नथमलजी उस पोशाल के एक विद्यार्थी थे। प्रारंभ में वे एक साधारण विद्यार्थी थे। मुनि तुलसी को चिंता थी कि ये कैसे पढ़ेंगे और कैसे आगे बढ़ेंगे, पर तीन ही वर्षों में एक चमत्कार घटित हो गया। उनकी मेधा प्रखर हो गई। जैन आगम उत्तराध्ययन के 36 अध्ययनों को छत्तीस दिनों में कण्ठस्थ करके उन्होंने एक मिसाल कायम कर दी। मुनि तुलसी की पोशाल के विद्यार्थी रहे मुनि नथमलजी उत्तरोत्तर विकास के नए-नए शिखरों पर आरोहण करते रहे। एक समय ऐसा भी आया, जब वे अपने विद्यागुरु मुनि तुलसी के आचार्य बनने के बाद उनके प्रशासनिक कार्यों में सहयोगी बने और आगे जाकर उनके उत्तराधिकारी बन गए।

ध्यान के महान साधक

महादेवी वर्मा महात्मा गांधी के बारे में कहा करती थी कि ईश्वर के यहां वे सांचे ही टूट गए जिनसे ऐसे लोग ढलकर आते थे। इस बात को आचार्य महाप्रज्ञ के साथ जोड़ा जा सकता है। उन्होंने अपनी साधना और पुरुषार्थ से प्रज्ञा का जागरण किया। वे जितने प्रज्ञा के आराधक थे, उतने ही ध्यान के साधक थे। 'धम्मपद' में लिखा है—

नत्थि ज्ञाणं अपज्जस्स, पज्जा नत्थि अज्ञाणतो।

याम्हि ज्ञाणं च पज्जा च, स वे निव्वाणसन्तिके॥

प्रज्ञाहीन मनुष्य के ध्यान नहीं होता, ध्यान न करने वाले के प्रज्ञा नहीं होती, जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, वह निर्वाण के समीप है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने जीवन में ध्यान के विविध प्रयोग किए और उनके आधार पर प्रज्ञा के नए-नए क्षितिज उद्घाटित किए। व्यक्तिगत दृष्टि

से वे ध्यान की गहराई में उतरते थे और सामुदायिक दृष्टि से संघ, समाज और विश्व-मानव के उन्नयन की बात सोचते थे।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी

आचार्य महाप्रज्ञ के अनेक रूप थे, सर्वप्रथम वे एक साधक थे, गुरु के प्रति उनका समर्पण विलक्षण था। राजस्थान पत्रिका के संपादक श्री गुलाब कोठारी के अनुसार 'आचार्य महाप्रज्ञ कभी अकेले नहीं जीए। उनके आधे शरीर में आचार्य तुलसी और आधे शरीर में आचार्य महाश्रमण नजर आते थे। आचार्य महाप्रज्ञ की आत्मा में आचार्य तुलसी सदा तरंगित रहे। उनके ही प्रतिबिम्ब को हम आचार्य श्री महाप्रज्ञ कहते हैं। हम उनको महाप्रज्ञ बोलें या आचार्यश्री तुलसी, मुझे तो अन्तर नजर नहीं आता।' आचार्य महाप्रज्ञ के समर्पण भाव की चर्चा करते हुए एक बार आचार्यश्री तुलसी ने कहा—'विनय, समर्पण और विधायक भाव वाले व्यक्ति की प्रज्ञा जागती है। जो मन में नफरत, विरोध की भावना रखता है, वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता। महाप्रज्ञ ने अपने चिंतन में निषेधात्मक भाव नहीं आने दिया। इनका सारा कार्य, सारा चिन्तन विधायक दृष्टिकोण की परिक्रमा करता रहा। आज विश्व-मानव का चिन्तन सत्ता व सम्पदा पर केन्द्रित है, जिससे मानव अशान्त है। मैं महाप्रज्ञजी से कहना चाहता हूं कि हमें अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान के माध्यम से ऐसा वातावरण बनाना है, जिससे अशान्त मानव को शांति का मार्ग मिल सके।'

आचार्य महाप्रज्ञ महान् दार्शनिक थे। एलाचार्य विद्यानन्दजी ने एक बार कहा था— 'मुनि नथमलजी इस भारत के ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के शीर्षस्थ दार्शनिकों में से है। मैं उन्हें जैन न्याय के क्षेत्र का राधाकृष्णन् मानता हूं।'

वे जैन आगमों के संपादक तथा विवेचक थे। आचार्य श्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में उन्होंने तटस्थ दृष्टि और वैज्ञानिक पद्धति से अनेक जैन आगमों का संपादन करके जैन शासन की महान सेवा की है।

वे महान योगसाधक और जैन ध्यानयोग की परम्परा के पुनरुद्धारक थे। आचार्य श्री तुलसी ने उनको 'जैन योग के पुनरुद्धारक' संबोधन से संबोधित कर उनके प्रायोगिक व्यक्तित्व को उजागर कर दिया।

वे महान साहित्यकार, महान प्रवचनकार एवं विरल आशुकवि थे। आचार्य महाप्रज्ञ का वाङ्मय इतना समृद्ध है कि उस पर कई थीसिस लिखी जा सकती हैं।

तादात्म्य गुरु-शिष्य का

आचार्य श्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ की जोड़ी एक विलक्षण जोड़ी थी। संवत् 2053 के लाडनू प्रवास के दौरान आचार्यश्री तुलसी ने एक बार आचार्यश्री महाप्रज्ञ से कहा—'मैं बयासी पार कर चुका हूँ और तुम 77वें वर्ष में हो। अब जो अनिवार्य कार्य हैं, उनकी तालिका बनाओ। तुलसी-महाप्रज्ञ युग बार-बार नहीं आयेगा।'

आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ का सहचिन्तन चलता था। वे दीर्घकाल तक साथ रहे। इतने लम्बे समय में प्रायः कभी दो मत नहीं हुए। अनेक बार विचार-सम्प्रेषण का प्रयोग भी हो जाता था। आचार्य महाप्रज्ञ कुछ कहते तो आचार्य तुलसी कहते कि मैं यही सोच रहा था, तुमने पहले ही कह दिया। कई बार आचार्य महाप्रज्ञ सोचते उसे आचार्य तुलसी पहले ही बता देते। गुरु-शिष्य अथवा दो आचार्यों का यह तादात्म्य-भाव इतिहास का विलक्षण उदाहरण है।

प्रज्ञा के मूर्तिमान प्रतीक आचार्य श्री महाप्रज्ञ के प्रति कुछ पंक्तियों में श्रद्धा का अर्पण—

जिस प्रज्ञा ने महाप्रज्ञ-सा रूप उकेरा,
जिस प्रज्ञा ने तोड़ दिया जड़ता का घेरा।
जिस प्रज्ञा ने नए क्षितिज उन्मुक्त कर दिए,
जिस प्रज्ञा ने रीते जीवन में कुंभ भर दिए।
दीप्तिमान उस प्रज्ञा को है नमन हमारा॥

9. नई शताब्दी के मार्गदर्शक

संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं—आत्मद्रष्टा, युगद्रष्टा और भविष्य द्रष्टा। आत्मद्रष्टा व्यक्ति केवल अपने आपको देखते हैं, अपने बारे में सोचते हैं और उनकी समग्र गतिविधियां आत्मकेन्द्रित होती हैं। युग द्रष्टा व्यक्तियों की आंखों के सामने एक पूरा युग रहता है। वे युग की स्थितियों का आकलन करते हैं, समस्याओं को देखते हैं और उनका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। भविष्य द्रष्टा व्यक्ति दूरगामी सोच रखते हैं, दूर दृष्टि से देखते हैं और आने वाले समय की पदचाप को पहचान कर पहले ही सावधान हो जाते हैं।

अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मदर्शन का सर्वाधिक महत्त्व है। भारत में ख्यातनामा ऋषि-महर्षि आत्म-साक्षात्कार के लिए बड़ी-बड़ी तपस्याएं करते रहे हैं और उत्कृष्ट कोटि की साधना में लीन रहे हैं। **जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ**—जो एक आत्मा को समग्र रूप से जान लेता है—वह पूरे ब्रह्माण्ड को जान लेता है, इस सूक्त की प्रेरणा भी आत्मा पर केन्द्रित है। आत्मा की पहचान अथवा आत्मोपलब्धि के बाद व्यक्ति में होने वाली युगदर्शन की क्षमता सहज ही पुष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से उसी युगद्रष्टा को प्रशस्त माना जा सकता है, जो परमार्थ की वेदिका पर खड़ा होकर युगबोध देता है।

युगबोध का सीधा सम्बन्ध वर्तमान की गतिविधियों से है। जैन दर्शन का वर्तमान एक समय का होता है। समय काल की सबसे छोटी इकाई है। उसको पकड़ पाना आम आदमी के लिए संभव नहीं है। इसलिए युग को परिभाषित करते समय सापेक्ष दृष्टिकोण का उपयोग आवश्यक प्रतीत होता है। युगद्रष्टा शब्द के सन्दर्भ में युग को देखने व परखने वाली आंख ही अलग तरह की होती है। उस आंख का उपयोग करने वाला व्यक्ति ही युगद्रष्टा कहलाता है।

भविष्यद्रष्टा के सामने कोई इयत्ता नहीं होती। वह आज के बारे में दिशाबोध दे सकता है, पांच वर्ष बाद घटित होने वाली घटनाओं की सूचना दे सकता है, पचास वर्ष पश्चात पैदा होने वाली समस्याओं का समाधान सुझा सकता है और पांच सौ वर्ष बाद मंडराने वाले खतरों के बारे में भी आगाह कर सकता है। भावी को देखने और समझने के अनेक साधन हो सकते हैं। सब साधनों की अपनी सीमाएं हैं। भविष्य का यथार्थ दर्शन तो आत्मज्ञान के सहारे ही संभव है।

आत्मद्रष्टा ऋषि

कुछ व्यक्ति आत्मद्रष्टा होते हैं, युगद्रष्टा और भविष्य द्रष्टा नहीं होते। कुछ व्यक्ति युगद्रष्टा होते हैं, आत्मद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा नहीं होते हैं। कुछ व्यक्ति भविष्यद्रष्टा होते हैं, युगद्रष्टा और नहीं होते। कुछ व्यक्ति आत्मद्रष्टा और युगद्रष्टा होते हैं, पर भविष्य दर्शन की इयत्ता नहीं रखते। कुछ व्यक्ति युगद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा बन जाते हैं, पर आत्मा को विस्मृत कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं, जिनमें युगपत तीनों दर्शन समाहित रहते हैं। आज ऐसे व्यक्तित्व को अपेक्षा है, जो आत्मद्रष्टा, युगद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा एक साथ हो।

तेरापंथ धर्मसंघ के दशम अधिशास्ता आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने बचपन में आत्मद्रष्टा बनने का सपना देखा और वे अष्टमाचार्य श्री कालूगणी की सन्निधि में पहुंचे। पूज्य कालूगणी ने बालक को देखा, परखा और योग्य समझकर अपनी शरण में ले लिया। उनकी इकहरी शरण ही व्यक्ति को सर्वथा निश्चिन्त बनाने वाली थी। वैसी स्थिति में दोहरी शरण पाने वाला व्यक्ति कितना सौभाग्यशाली होता है, यह कल्पना ही सुखद और रोमांचक है।

महामनस्वी आचार्यश्री कालू और मुनि तुलसी के अनुशासन संवलित स्नेहिल संरक्षण में महाप्रज्ञजी के मुनि जीवन की यात्रा प्रारम्भ हुई। उस समय उनकी पहचान 'मुनि नथमलजी' के नाम से होती थी। छह-सात वर्ष का समय उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए बुनियादी समय था। तब तक उन्होंने एक मेधावी छात्र के रूप में अपनी पहचान बना ली थी। कालूगणी का महाप्रयाण

और मुनि तुलसी का आचार्यपद पर आरोपण—ये दो घटनाएं एक साथ घटित हुईं। महाप्रज्ञजी को अकेलापन महसूस हुआ। वे कुछ मायूस हो गए। आचार्य तुलसी की पारदर्शी आंखों ने उस मायूसी को देखा और उनके टूटते हुए दिल को थाम लिया। अपने विद्यागुरु में दीक्षागुरु की छवि पाकर मुनि नथमलजी का मन आश्वस्त हुआ। उन्होंने बिखरते हुए उत्साह को सहेजकर फिर एक यात्रा शुरू की ओर सात वर्षों में मध्यवर्ती मंजिल तक पहुंच गए। संसार को उनकी प्रतिभा से परिचित होने का मौका मिला।

युगद्रष्टा मनीषी

आचार्य श्री तुलसी महान युगद्रष्टा थे। उन्होंने अपनी इस अर्हता को उन व्यक्तियों में संप्रेषित करने का प्रयास किया, जो उन्हें उपयुक्त पात्र प्रतीत हुए। मुनि नथमलजी जब उनके पास आए, दोनों में अकल्पित अद्वैत स्थापित हो गया। उस अद्वैत का लाभ अनायास ही मुनि नथमलजी को मिल गया। आचार्यश्री अपने हर चिन्तन और विशेष क्रियाकलापों के साथ उन्हें जोड़ते चले गए। उनकी प्रतिभा का स्फुरण पहले ही हो चुका था। नई संभावनाओं के आकाश में कर्तृत्व के सतरंगे इन्द्रधनुष खिलाने का अवसर पाकर मुनि नथमलजी के जीवन की दिशा बदल गई। उनके वैयक्तिक जीवन में संघीय गतिविधियों का प्रवेश हो गया। संघ के लिए सोचने और सुचिन्तित योजनाओं को क्रियान्वित करने में उनकी शक्ति और श्रम का नियोजन होने लगा।

जीवन के उस पड़ाव पर युगीन सन्दर्भों से आमना-सामना हुआ। समसामयिक विषयों को पढ़ने और युगभाषा में लिखने की भावना ने अंगड़ाई ली। एक और नई यात्रा का प्रारम्भ हो गया। उस समय मुनि नथमलजी की प्रवृत्तियों पर प्रश्नचिन्ह भी लगे, किन्तु गुरु के अगाध विश्वास ने वहां पूर्ण विराम लगा दिए। उस विकास यात्रा में उनका युगबोध परिपक्व हो गया। आगे से आगे उनकी क्षमताएं उजागर होने लगीं और वे अपने युग के प्रतिनिधि चिन्तक एवं दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। एक युगद्रष्टा मनीषी सन्त का मार्गदर्शन पाने की प्रतिस्पर्द्धा खड़ी हो गई।

भविष्यद्रष्टा सन्त

आचार्यश्री तुलसी कई बार कहते थे कि हमारे महाप्रज्ञजी अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं। इनकी अन्तर्दृष्टि जागृत है। अतीन्द्रियज्ञानी या अन्तर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही भविष्यद्रष्टा हो सकता है। ज्योतिषी लोग भविष्यवाणियां करते हैं। उनके भविष्य ज्ञान का आधार हस्तेखाएं हो सकती हैं और ग्रहनक्षत्र हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति आकृति विज्ञान के आधार पर भी व्यक्ति के भविष्य सम्बन्धी सूचनाएं दे देते हैं। मौसम विज्ञानी मौसम के बारे में भविष्यवाणियां करते रहते हैं। उक्त श्रेणी के विशेषज्ञ व्यक्तियों द्वारा संकेतित बातें सत्य हो सकती हैं, किन्तु उनकी सत्यता असंदिग्ध नहीं होती। यही कारण है कि ज्योतिर्विदों और मौसम वैज्ञानिकों की सूचनाओं पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता।

जैन शास्त्रों में ज्ञान के दो प्रकार बताए गए हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। केवल ज्ञान, मनः पर्यवज्ञान और अवधि ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है। प्रत्यक्ष ज्ञानी द्वारा दृष्ट और ज्ञात तत्त्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इनकी कोई तुलना नहीं है। फिर भी ज्ञान की निर्मलता में बहुत अन्तर रह सकता है। इसी दृष्टि से श्रुतज्ञानी को श्रुतकेवली कहा जाता है। प्रातिभ ज्ञान, विशिष्ट श्रुतज्ञान अथवा ध्यान की शक्ति से भविष्य दर्शन की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक मनीषी सन्त और आध्यात्मिक योगी हैं। चमत्कार या भविष्यवाणियों में उलझना उनका उद्देश्य नहीं है। पर जैन आगमों के अज्ञात रहस्यों की खोज और व्यक्तित्व निर्माण की नई दृष्टियों का साक्षात्कार उनकी जागृत अन्तर्दृष्टि के स्पष्ट प्रमाण हैं। साइन्स और टेक्नोलॉजी की यह शताब्दी ऐसे महान् आचार्य को पाकर गौरवान्वित हो रही है।

व्यक्ति एक : रूप अनेक

आचार्यश्री महाप्रज्ञ एक व्यक्ति हैं, पर उनके रूप अनेक हैं। कभी वे आचार्य भिक्षु के विचारों को युगीन भाषा में प्रस्तुति देते नजर आते हैं तो कभी

आचार्य तुलसी के भाष्यकार बनकर मुखर होते हैं। कभी उनका दार्शनिक रूप सामने आता है तो कभी वे महान् साहित्यकार के रूप में उभरते हैं। कभी संस्कृत भाषा में उनका आशुकवित्त्व मुखरित होता है तो कभी वे हिन्दी भाषा के वाग्मी सन्त बन जाते हैं। कभी वे कुशल अध्यापक की भूमिका का निर्वाह करते हैं तो कभी आगम-सम्पादन की गहराइयों में पैठते हुए दिखाई देते हैं। कभी वे युगीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं तो भी कभी जीने की कला का बोध देते हैं। कभी वे ध्यान के प्रयोग सिखाते हैं तो कभी अहिंसा का प्रशिक्षण देते हैं। कभी वे उच्च कोटि के शिक्षाविदों से मन्त्रणा करते हैं तो कभी विद्यार्थियों को प्रतिबोध देते हैं। कभी वे प्रशासनिक कार्यों में व्यस्त रहते हैं तो कभी आंखें मूंदकर अन्तर्जगत में झांकते हैं। न जानें उनके कितने रूप हैं, उन सबको देखना और समझना किसी के वश की बात नहीं है।

समय की मांग

जैन आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है। भगवान् महावीर के बाद अब तक हजारों वर्षों की उस परम्परा में ऐसे देदीप्यमान नक्षत्र चमक रहे हैं, जिन्होंने अपने विशिष्ट अवदानों से युग को उपकृत किया है और जैनशासन की प्रभावना की है। युगप्रधान एवं प्रभावक आचार्यों ने अपनी साधना, विद्या एवं अन्य विशेषताओं से अपना विशिष्ट इतिहास बनाया है।

जैन परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के प्रथम आचार्य हुए। उनकी आत्माभिमुखता, कष्टसहिष्णुता, धृति और अनूठी सूझबूझ ने जो इतिहास रचा है, उसे पढ़ने वाले चमत्कृत हुए बिना नहीं रह पाते। आचार्य जय ने संगठन के सुदृढीकरण, व्यवस्थाओं के क्रियान्वयन और बहुआयामी साहित्यसृजन में अपनी विलक्षण मेधा का भरपूर उपयोग किया। आचार्य तुलसी के युग को तेरापंथ का स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। उन्होंने संघ में अनेक नए क्षितिज खोले। उनका युग विशिष्ट उपलब्धियों का युग रहा है। जिस धर्मसंघ की सैद्धान्तिक मान्यताओं का दो सौ वर्षों तक जमकर विरोध किया गया, उसकी जड़ों को जमाकर आचार्यश्री ने तेरापंथ को उस ऊंचाई तक पहुंचा दिया, जहां वह जैन धर्म की पहचान बनकर लोक चेतना को प्रभावित कर रहा है।

तेरापंथ धर्मसंघ के नौ आचार्यों की समृद्ध विरासत के स्वामी आचार्य महाप्रज्ञ वैज्ञानिक युग में धर्म की वैज्ञानिकता प्रमाणित करते रहे। उनके पास लोककल्याणकारी कार्यों की एक लम्बी सूची है। अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान की त्रिपदी युगीन समस्याओं के समाधान की अमोघ प्रक्रिया है। आध्यात्मिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों के अन्वेषण, प्रशिक्षण और प्रयोग के माध्यम से वे धर्म की तेजस्विता और व्यावहारिकता का प्रमाण प्रस्तुत करते रहते थे। जैन आगमों के सम्पादन और विवेचन का जो महान् अनुष्ठान उन्होंने किया, वह एक कार्य ही उनको युगप्रधान आचार्यों की श्रेणी में लाकर प्रतिष्ठित करने वाला था। आगम-सम्पादन कार्य में उनकी प्रज्ञा गहराई में उतरकर दिव्य रत्नों को बटोरती रही। ऐसा कार्य शताब्दियों-सहस्राब्दियों के अन्तराल में कभी-कभार ही हो पाता है। उस पवित्र प्रज्ञा के प्रयोक्ता युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ आने वाली नई सदी को अध्यात्म का बोधपाठ पढ़ाएंगे, ऐसा विश्वास है।

10. कालजयी साहित्य के सर्जक

जीवन की पेटी में

विश्वविजयी सम्राट सिकन्दर को उनके एक सैनिक अधिकारी ने एक बहुत सुंदर रत्नजटित पेटी भेंट की। सिकन्दर उस पेटी की शानदार नक्काशी देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उसने सबके सामने एक प्रश्न उपस्थित किया कि इस सुन्दर पेटिका में क्या रखा जाए? सिकन्दर के निकटवर्ती लोगों ने उसे सुझाव दिया कि इसमें हीरे और जवाहरात रखे जाएं। किसी ने कीमती वस्त्र रखने का सुझाव दिया। किसी ने कहा कि इसमें भंडार की चाबियां रखी जाए तो किसी ने परामर्श दिया कि इस पेटिका में अत्यन्त गोपनीय कागजात रखे जाएं।

सिकन्दर को किसी का सुझाव जचा नहीं। वह स्वयं सोचने लगा कि इस पेटिका का क्या उपयोग हो? चिंतन की धारा आगे से आगे बढ़ती गई। उसके चिंतन में एक प्रमुख बात उभर कर आई कि मुझे जो ख्याति मिली है, वह धन-वैभव से नहीं मिली, मुल्कों को जीतने से भी नहीं मिली। सोचते-सोचते अचानक उसे खयाल आया कि जो पौरुष, पराक्रम और साहस का मार्ग मुझे मिला है, वह एक ग्रंथ के आधार पर मिला है और उसी के आधार पर भीतर छिपी हुई शक्तियों का मुझे अहसास हुआ। मैंने उनका प्रयोग किया और उसी के बल पर मैं विश्वविजेता बना। वह महान ग्रंथ है- महाकवि होमर द्वारा लिखित महाकाव्य “इलियट”। मेरी दृष्टि में इस महान ग्रंथ से बड़ी और बहुमूल्य चीज इस धरती पर कुछ भी नहीं है। इसी ग्रंथ ने मेरे जीवन को एक नया मोड़ दिया है। इसलिए इस सुन्दर पेटी में मैं उसी ग्रंथ को रखूंगा।

आचार्य महाप्रज्ञ महान् साहित्यकार थे। महाप्रज्ञ वाङ्मय के अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जिनका स्वाध्याय करने से पाठक की चेतना इंकृत हो सकती है,

जीवन-शैली बदल सकती है तथा परिवार, समाज और राष्ट्र को नई दिशा मिल सकती है। प्रश्न हो सकता है कि उन ग्रंथों को कहां रखा जाए? क्या सिकन्दर जैसी कोई मूल्यवान पेटी है मनुष्य के पास, जिसका उपयोग उन ग्रंथ-रत्नों को सुरक्षित रखने में किया जा सके? मेरे अभिमत से वैसी या उससे अधिक सुन्दर पेटी हर किसी के पास है और वह पेटी है व्यक्ति का अपना जीवन। इस पेटी में उन ग्रंथों के खास-खास फॉर्मूलों को सहेजकर कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को नई दिशा दे सकता है तथा समाज और राष्ट्र के लिए कुछ कर सकता है।

महान साहित्यकार कौन ?

कहा जाता है कि समाज को दृष्टि और दिशा देने वाले दो ही वर्ग हैं—संत और साहित्यकार। जहां संतता और सृजनशीलता दोनों एक साथ मिल जाते हैं, वहां सोने में सुगंध हो जाती है। आचार्य महाप्रज्ञ भारतीय साहित्य जगत के देदीप्यमान सूर्य थे। उनका साहित्य साहित्य-जगत में ध्रुवतारे की तरह चमकने वाला है।

एक प्रश्न है कि महान् और कालजयी साहित्यकार कौन ? इसका सबसे अच्छा उत्तर यह होगा- जो अपने समय को समझता है, उसे आत्मसात करता है और उसे स्वर देने का सामर्थ्य रखता है, वह साहित्यकार कालजयी होता है। कुछ लोगों का चिंतन है कि आज के युग में मौलिक और रचनात्मक साहित्य का अभाव-सा है। लेकिन आचार्य महाप्रज्ञ का साहित्य इस मिथक को तोड़ने वाला है। उत्कृष्ट और प्रखर साहित्य लेखन के लिए दो बातें अपेक्षित हैं—तीव्र अनुभूति और प्रभावी अभिव्यक्ति। आचार्य महाप्रज्ञ ने अनुभवों की दुनिया में बहुत गहराई से प्रवेश ही नहीं किया, अवगाहन भी किया है। उन्होंने अभिव्यक्ति की भी बहुत क्षमता अर्जित की। यह भी माना जाता है कि ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक रोशनी से अपरिचित रहने वाला साहित्यकार युग की ज्वलंत समस्याओं को समाहित नहीं कर सकता। आचार्य महाप्रज्ञ ने प्राचीन शास्त्रों में अवगाहन करने के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक रोशनी को भी देखा है, परखा है तथा आत्मसात किया है। इसलिए उनके साहित्य में युग की ज्वलंत समस्याओं को समाधान देने

की ताकत है। हालांकि आचार्य महाप्रज्ञ का जीवन अध्यात्म से अनुप्राणित था, फिर भी उनके साहित्य में मिथोलॉजी है, सिंबोलॉजी है, टेक्नोलॉजी है, साइकोलॉजी है, सोशियोलॉजी भी है। इतना सब कुछ जिस साहित्य में होता है, वह साहित्य अपने आप में कालजयी होता है।

जटायुवृत्ति जगाने वाला साहित्य

प्रो. अब्दुल कलाम ने एक बार कहा था कि छः अरब की आबादी वाले हमारे मुल्क भारत के लिए सिर्फ एक चीज की जरूरत है, वह है अन्याय के विरुद्ध सुनियोजित लड़ाई की। लोग कहते हैं जमाना बहुत बुरा है, भ्रष्टाचार बढ़ रहा है, सम्प्रदायों के नाम पर संघर्ष हो रहे हैं। जातिवाद के कंटीले कैक्टस मन में चुभन पैदा कर रहे हैं। अपहरण, हत्या बलात्कार, लूटमार की वारदातें बढ़ती जा रही हैं। जीवन में कब, कैसी दुर्घटना घटित हो जाए, कहा नहीं जा सकता। ये सब स्थितियां अवांछनीय हैं, किन्तु इनसे भी अधिक चिन्तनीय स्थिति यह है कि इनके विरोध में अंगुली उठाने वाले नहीं हैं या नगण्य हैं। कोई बुराई करता है तो करे, अपना क्या? यह खामोशी की संस्कृति समाज ओर देश के लिए घातक है। इस संस्कृति पर प्रहार करने वाला और कर्तव्यबोध देने वाला यह साहित्य जन-जन में जटायुवृत्ति पैदा कर सके और व्यापक खामोशी को तोड़ सके तो इसकी महत्ता एवं उपयोगिता स्वयं प्रमाणित हो सकती है।

11. पॉलीमैथ से अग्रिम शिखरगामी

26 अक्टूबर 2016, शनिवार। राजस्थान पत्रिका में एक आलेख पढ़ा-- 'अब समय है पॉलीमैथ बनने का।' उस आलेख में बताया गया कि पॉलीमैथ एक ऐसा व्यक्ति होता है, जिसके पास ढेर सारे विषयों की जानकारी होती है। वह अपने नॉलेज से जटिल समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखता है।

उस आलेख में विश्व-इतिहास के ऐसे कई महान व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है जिनको पॉलीमैथ की श्रेणी में लिया गया है। वे व्यक्ति हैं लियोनार्दो द विंची, माइकल एंजिलो, सर रिचर्ड फ्रांसिस बर्टन, बटेंड रसेल आदि, किन्तु किसी भारतीय मनीषी का नाम उस शृंखला में नहीं है। उस आलेख को पढ़ने के बाद मेरे विचारों में एक उथल-पुथल-सी मच गई। क्या भारतवर्ष में आज तक कोई ऐसा व्यक्तित्व पैदा ही नहीं हुआ, जो अनेक विषयों का विशिष्ट ज्ञान रखता हो। इस विषय में शोध करने का दायित्व उन अनुसन्धित्सु व्यक्तियों का है, जो इस विषय में काम करते हैं अथवा रुचि रखते हैं। मैं तो एक ऐसे महापुरुष का नाम उल्लिखित करना चाहती हूँ, जिन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा/प्रज्ञा के बल से बीसवीं और इक्कीसवीं, दो-दो शताब्दियों को उपकृत किया। वे मनीषी महापुरुष थे आचार्य महाप्रज्ञ।

महाप्रज्ञ की शिक्षा-दीक्षा

आचार्य महाप्रज्ञ एक साधक थे। मात्र दस वर्ष की अवस्था में तेरापंथ के अष्टम आचार्य श्री कालुगणी के पास दीक्षित हुए। उनको शिक्षित करने का दायित्व मुनि तुलसी (आचार्य तुलसी) को दिया गया। वे अविकसित प्रतिभाओं के विकास की कला में निष्णात थे। उन्होंने आचार्य महाप्रज्ञ को

भीतर और बाहर, दोनों ओर से तराशा। कोई अनगढ़ पाषाण अनुभवी शिल्पी के कुशल हाथों का स्पर्श पाकर सुन्दर प्रतिमा के रूप में ढल जाता है, वैसे ही व्यक्तित्व-निर्माण की कला के मर्मज्ञ का प्रशिक्षण प्राप्त कर अज्ञ भी विज्ञ बन जाता है। इसके जीवन्त उदाहरण हैं आचार्य महाप्रज्ञ।

साधु जीवन की यात्रा के प्रथम दो-तीन वर्षों में ज्ञानाराधना के क्षेत्र में उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ, पर उसके बाद जो प्रगति हुई, वह चामत्कारिक थी। अपनी कक्षा में मेधावी विद्यार्थियों की प्रथम पंक्ति में पहुंचकर आचार्य महाप्रज्ञ ने यह साबित कर दिया कि अनुकूल अवसर प्राप्त हो तो भाग्य और पुरुषार्थ के सहारे व्यक्ति विकास के शिखर पर आरोहण कर सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ केवल जैन शास्त्रों के ही अध्येता नहीं थे, वे प्रख्यात दार्शनिक थे। जैन दर्शन : मनन और मीमांसा एवं जैन न्याय का विकास उनके ऐसे ग्रन्थ हैं, जो विद्वज्जगत् में समादृत हो चुके हैं। अहिन्दी भाषी परिवेश में लगभग दो दशक बिताने पर भी उनकी हिन्दी इतनी परिष्कृत थी कि देश के प्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रकुमारजी, अक्षयकुमारजी, वेदप्रताप वैदिक, विश्वनाथ मिश्र जैसे लेखक उनके वक्तृत्व और लेखन के मुरीद थे।

आचार्य महाप्रज्ञ कुशल प्रवक्ता थे। उनके प्रवचनों को आम और खास सभी लोग पसन्द करते थे। वे हिन्दी और राजस्थानी भाषा में तो धाराप्रवाह बोलते ही थे, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं पर भी उनका पूरा अधिकार था।

वे संस्कृत भाषा के लब्धप्रतिष्ठ आशुकवि थे। स्रग्धरा जैसे कठिन छन्दों में आशुकविता के रूप में समस्यापूर्ति करके वे सुधीजनों को चमत्कृत कर देते थे।

आचार्य तुलसी विश्वविद्यालय में

प्रसंग सन् 1954 का है। आचार्य तुलसी मुम्बई में प्रवास कर रहे थे। उस समय भारतीय विद्या भवन में संस्कृत संगोष्ठी का आयोजन था। संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान उसमें संभागी थे। आचार्य तुलसी को भी संगोष्ठी में पधारने का अनुरोध किया गया। वे वहां पधारे। मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) भी उनके साथ गए। उन्होंने संस्कृत में वक्तव्य दिया और

आशुकविता भी की। विद्वान लोग एक जैन मुनि का प्रतिभा-पाटव देखकर मुग्ध हो गए।

संगोष्ठी सम्पन्न होने के बाद आचार्य तुलसी ने भारतीय विद्या भवन से प्रस्थान किया। मुनिश्री नथमलजी कुछ पीछे रह गए। कुछ प्रोफेसर उनके साथ चल रहे थे। एक प्रोफेसर ने जिज्ञासा की—‘मुनिजी! आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है?’ मुनिश्री ने अपने विशिष्ट बुद्धिवैभव से उत्तर दिया—‘आचार्य तुलसी विश्वविद्यालय में।’ विद्वान प्रोफेसर ने अपने दिमाग को घुमाया। उक्त नाम का कोई विश्वविद्यालय उनकी जानकारी में नहीं था। उन्होंने पूछा—‘यह विश्वविद्यालय कहां है?’ मुनिश्री ने अपने आगे चल रहे आचार्य तुलसी की ओर इशारा करते हुए कहा—‘देखो, वह आगे-आगे चल रहा है। किसी विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में शिक्षा का अवसर न मिलने पर भी मुनिश्री इतने विशिष्ट ज्ञानी बन गए, यह आश्चर्य का विषय था।

प्राकृत भाषा में वक्तव्य

आचार्य तुलसी के मुंबई-प्रवास में ही अमेरिका के पेनस्लेवेनिया यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. नार्मन ब्राउन बउनके सान्निध्य में उपस्थित हुए। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा—‘आचार्यजी! मेरी एक अभिलाषा है कि मैं भगवान महावीर की मूल भाषा प्राकृत में भाषण सुनूं।’ आचार्यश्री ने पूछा—‘आप किस विषय में सुनना चाहेंगे?’ उन्होंने कहा—‘स्याद्वाद के बारे में सुनना चाहता हूं।’

आचार्य तुलसी की अनुज्ञा प्राप्त कर मुनिश्री नथमलजी ने परिषद के बीच प्राकृत भाषा में लगभग बीस मिनट तक धाराप्रवाह वक्तव्य दिया। उस वक्तव्य को सुनकर डॉ ब्राउन बोले—‘आचार्यजी! मेरे जीवन का यह पहला प्रसंग है, जब मैंने प्राकृत में धाराप्रवाह वक्तव्य सुना है। मैं आपका बहुत-बहुत कृतज्ञ हूं। मेरी भारत यात्रा सफल हो गई।’

जैन आगमों के सम्पादक और विवेचक

सन् 1955 में आचार्य तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा पर थे। पूना से नारायणगांव जाते समय वे 7 मार्च 1955 को ‘मंचर’ गांव में पधारे। वहां वे

कुछ पत्र-पत्रिकाएं देख रहे थे। 'धर्मदूत' नाम के एक पत्र में बौद्ध पिटकों के सम्पादन की योजना का संवाद छपा था। उसको पढ़ते ही आचार्यश्री के मन में एक विचार आया कि बौद्ध साहित्य पर पहले भी काफी काम हुआ है। अब पुनः उनके सम्पादन की बड़ी योजना बनाई गई है। जैन आगम इतने महत्वपूर्ण हैं। क्या उनके सम्पादन की बात नहीं सोचनी चाहिए ?

आचार्यश्री ने आधुनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से आगम-सम्पादन का सपना देखा, संकल्प किया और भगवान महावीर की जन्म जयंती के दिन औरंगाबाद में उसकी घोषणा कर दी। सन् 1955, उज्जैन चतुर्मास में आगम-सम्पादन का कार्य प्रारंभ हो गया। उस काम में अनेक साधु-साध्वियों को नियोजित किया गया, पर उसका मुख्य दायित्व मुनिश्री नथमलजी को सौंपा गया। आगमों के सम्पादन की रूपरेखा तैयार करते समय आचार्य तुलसी ने कहा— 'हम आगम-सम्पादन का एक बहुत बड़ा काम हाथ में ले रहे हैं। हमें गहरी निष्ठा और शक्ति-नियोजन से इस कार्य को सम्पन्न करना है। इसमें हमें पूरी तटस्थता रखनी है। आगमों के साथ न्याय करना है। यह काम करते समय हमारी दृष्टि में कोई साम्प्रदायिक आग्रह न हो। आगम के मूल अर्थ से कहीं कोई साम्प्रदायिक परम्परा भिन्न हो तो उसका उल्लेख हम पाद टिप्पण में कर सकते हैं। दूसरी ध्यान देने योग्य बात है कि हमें यह काम वेतनभोगी पण्डितों से नहीं करवाना है। हमें अपने पूरे पुरुषार्थ का नियोजन करना है। हमारे लिए सबसे बड़ी सुविधा है एक नेतृत्व की। हम जितने साधु-साध्वियों को इस काम में नियोजित करना चाहें, कर सकते हैं। यह स्थिति अन्यत्र दुर्लभ है।'

आचार्य तुलसी के वाचना-प्रमुखत्व में आगम-सम्पादन की जो यात्रा शुरू हुई, वह उनके युग में बराबर चलती रही। यह उनकी अपनी अभिरुचि का काम था, इसलिए वे स्वयं समय लगाते थे। मुनिश्री नथमलजी पर इस काम का विशेष दायित्व था, इसलिए वे इसके प्रति एक प्रकार से समर्पित ही हो गए। उन्होंने आगमों के जो विशेष टिप्पण लिखे, उनमें आयुर्वेद, ज्योतिर्विज्ञान, बौद्ध साहित्य, वैदिक साहित्य आदि ग्रन्थों के बहुआयामी उद्धरण उनकी विशिष्ट मेधा के साक्ष्य हैं। उन्होंने सम्पादन और विवेचन के साथ-साथ आचारांग सूत्र पर संस्कृत में भाष्य का आलेखन भी किया

आगम-सम्पादन की वह यात्रा आचार्य महाप्रज्ञ के युग में भी चली और वर्तमान में आचार्य महाश्रमण के युग में भी चल रही है।

प्रेक्षाध्यान पद्धति

भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद धीरे-धीरे ध्यान की परम्परा क्षीण-सी हो गई। आचार्य तुलसी की प्रेरणा से उस परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का काम आचार्य महाप्रज्ञ ने किया। उन्होंने जैन आगमों का मन्थन किया, उनमें विकीर्ण ध्यान के तत्त्वों को संकलित किया और 'प्रेक्षा ध्यान' के नाम से नई ध्यान पद्धति का आविष्कार किया। इस विशिष्ट उपलब्धि के लिए आचार्य तुलसी द्वारा उनको 'जैन योग के पुनरुद्धारक' सम्बोधन से सम्बोधित किया गया प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का विपुल मात्रा में साहित्य भी उपलब्ध है।

जीवन-विज्ञान का उपक्रम

शिक्षा के क्षेत्र में एक नया आयाम प्रस्तुत करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ ने जीवन विज्ञान-आर्ट ऑफ लिविंग का प्रकल्प प्रदान किया। इस प्रकल्प के माध्यम से विद्यार्थियों के लिए थ्योरीटिकल एवं प्रैक्टिकल पाठ्यक्रम का निर्धारण किया गया। अनेक विद्यालयों में यह पाठ्यक्रम लागू हुआ और उसका यथेष्ट परिणाम भी आया।

इसी प्रकार अन्य कई क्षेत्रों में आचार्य महाप्रज्ञ के विविध अवदान हैं। वे स्वसमय (जैन सिद्धान्तों) और पर समय (अन्य सिद्धान्तों) के विशिष्ट ज्ञाता एवं व्याख्याता तो थे ही, कवि, लेखक, वक्ता, आशुकवि, दार्शनिक, प्रशासक, अनुसन्धायक आदि क्या-क्या नहीं थे। तलहटी से शिखर तक पहुंचने वाले ऐसे विशिष्ट ज्ञान और गुणों के समवाय आचार्य महाप्रज्ञ तो पॉलीमैथ से भी आगे के शिखर को छूने वाले महापुरुष थे।

12. महासागर से निकला प्रज्ञासागर

भारतीय संस्कृति बहुरंगी संस्कृति है। इसमें अध्यात्म और धर्म के साथ लौकिक पर्वों और परंपराओं का भी समावेश है। इस संस्कृति में गुरु का स्थान बहुत गरिमापूर्ण है। गुरु नामधारी व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, पर वास्तव में गुरु वे होते हैं जो ज्ञान रूप अन्धकार में भटके हुए लोगों को ज्ञान का आलोक प्रदान कर सही रास्ते पर ले आते हैं। सामान्यतः अक्षर ज्ञान देने वाले भी गुरु कहलाते हैं, पर ज्ञान के साथ अध्यात्म की रोशनी से जीवन को जगमगाने वाले और विकास के नए-नए गुरु सिखाने वाले गुरु विरल होते हैं।

गुरु में सागर जैसी गहराई और मेरु जैसी ऊँचाई होती है। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि गुरु सागर और सुमेरु होते हैं। सागर की अनेक विशेषताएं होती हैं। वह अपनी सीमा में रहता है। छोटी-बड़ी सभी नदियों को स्वयं में समाहित कर लेता है। उसमें शंख, सीप, मोती आदि मूल्यवान वस्तुएं होती हैं। वह छोटे-बड़े सब प्रकार के प्राणियों को आश्रय देता है।

गुरु सागर की तरह महान होते हैं। शिष्य कभी कुशिष्य हो सकते हैं, पर महान गुरु कभी अपनी गुरुता को नहीं छोड़ते। वे बाल-वृद्ध, ज्ञानी-ध्यानी, सेवाभावी-सेवाग्राही, अविकसित-विकासशील आदि सभी शिष्यों के आधार होते हैं। गुरु उनका निर्माण करते हैं और सुयोग्य शिष्य को विकास के शिखर तक पहुँचा देते हैं।

सागर में नदियों के समर्पण की बात जग-जाहिर है। छोटी-बड़ी अनेक नदियां सागर में अपना सर्वस्व समर्पण करती हैं। सागर उन्हें स्वयं में समाहित कर लेता है, पर सागर से निकलते हुए सागर को किसी ने नहीं देखा। आचार्य महाप्रज्ञ तेरापंथ धर्मसंघ की एक धारा थे। उन्होंने आचार्य तुलसी को सागर

मानकर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, अस्तित्व विलीन कर दिया। आचार्य तुलसी ऐसे महासागर थे, जिन्होंने अपने प्रति समर्पित एक धारा को आत्मसात किया, समुद्र बनाया और उसके अस्तित्व को स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित किया।

मुनि नथमल बने युवाचार्य महाप्रज्ञ

सन् 1979, वि.सं. 2035, माघ शुक्ला सप्तमी का दिन। मर्यादा महोत्सव का भव्य आयोजन। आचार्य तुलसी ने प्रवचन के मध्य एक महत्वपूर्ण निर्णय का संकेत देते हुए कहा—‘मैं आज अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करना चाहता हूँ।’ आचार्यवर के एक वाक्य ने हजारों-हजारों लोगों को उत्फुल्लनयन और उत्कर्ण बना दिया। कौन होगा आचार्य तुलसी का उत्तराधिकारी? यह जिज्ञासा स्वाभाविक थी। आचार्यश्री ने कहा कि वह व्यक्ति हिन्दुस्तान के किसी भी कोने में हो सकता है। इस वाक्य ने बहुत लोगों के मस्तिष्क को स्पन्दित कर दिया। कल्पना के अश्वों पर सवार होकर उन्होंने कुछ ही क्षणों में लम्बी यात्रा कर ली। मंजिल तक कोई पहुँचा या नहीं, उल्लेख करना मुशकिल है। आचार्यश्री ने उस यात्रा को विराम देते हुए अपने उपपात में आसीन मुनिश्री नथमलजी को सम्बोधित करते हुए कहा— ‘मुनि नथमलजी! खड़े हो जाओ। आचार्यप्रवर की इस उद्घोषणा के साथ ही लोगों की हवाई उड़ान रुक गई।

आचार्यवर ने उसी समय एक नई पछेवड़ी धारण की, उसे उतारी और अपने कर-कमलों से मुनि नथमलजी को ओढ़ा दी। जनता ने हर्ष-ध्वनि की। आचार्यश्री ने कुछ महीनों पहले गंगाशहर चातुर्मास में 12 नवंबर 1978 को आयोजित दीक्षा समारोह में मुनि नथमलजी को ‘महाप्रज्ञ’ विशेषण से विभूषित किया था। अपने हाथ से लिखे उत्तराधिकार पत्र में आचार्यप्रवर ने महाप्रज्ञ शब्द को विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया था—‘मैं आज तेरापंथ धर्मसंघ के 115वें मर्यादा-महोत्सव समारोह में अपने उत्तराधिकारी के रूप में ‘महाप्रज्ञ’ शिष्य मुनि नथमल को नियुक्त करता हूँ।’ इस नियुक्ति के बाद आचार्यवर ने महाप्रज्ञ विशेषण को नाम में बदल दिया। इस प्रकार आचार्य तुलसी के उत्तराधिकारी हुए युवाचार्य महाप्रज्ञ।

युवाचार्य का 16वां मनोनयन दिवस

वि.सं. 2050, माघ शुक्ला सप्तमी का दिन। सूर्योदय का समय। युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्य तुलसी की सन्निधि में उपस्थित हुए। युवाचार्य का मनोनयन 15 वर्ष पूर्व माघ शुक्ला सप्तमी को हुआ था। सोलहवें वर्ष के प्रारंभ में आचार्यवर ने अपने युवाचार्य को मंगल आशीर्वाद देते हुए कहा— 'हमारे युवाचार्य अभी तक नाबालिग हैं, साबालिग नहीं बने हैं। यह अच्छा भी है। बचपन में जितना श्रम, जितना ग्रहण होता है, उतना बाद में नहीं होता। इनमें ग्रहणशीलता है और वितरण की क्षमता भी। इनको दायित्व सौंपे पन्द्रह वर्ष हो रहे हैं, पर अभी तक इन्होंने अपना दायित्व संभाला नहीं है। यह पहला वर्ष है कि इस रूप में अपना दायित्व निभाना प्रारंभ किया है। इतने दिन ये नाम निक्षेप ही रहे। अब भाव निक्षेप बन रहे हैं। इससे पूर्व मैं इन्हें जब-जब कहता, ये टाल-मटोल कर जाते। पर इस बार इन्होंने कार्य प्रारंभ किया है। इसमें मेरा स्वास्थ्य भी निमित्त बना है। अब कोई साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं आती हैं तो मैं कहता हूँ—'महाप्रज्ञ की सेवा करो। उनसे प्रार्थना करो। इस संदर्भ में वे सोचेंगे और करणीय कार्य करेंगे।'

आचार्यप्रवर ने प्रातःकालीन अनौपचारिक कार्यक्रम में उपर्युक्त विचार अभिव्यक्त किए। एक बार ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके मस्तिष्क में कोई नई योजना आकार ले रही है, पर कोई नई बात सामने नहीं आई। उस कार्यक्रम में आचार्यवर ने एक-दो क्षण के लिए युवाचार्यश्री को अपने पट्ट पर बिठाया अवश्य था, किंतु उस आधार पर आम आदमी कोई अनुमान नहीं लगा सका। महापुरुषों के मन की थाह पाना सरल काम नहीं है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ बने आचार्य महाप्रज्ञ

माघ शुक्ला सप्तमी का दिन मर्यादा महोत्सव का मुख्य दिन है। मध्याह्न का समय। लगभग साढ़े तीन बजे का समय। कार्यक्रम चल रहा था। उसके बीच में आचार्यश्री तुलसी ने कहा— 'आज कुछ नया होने वाला है।' ये शब्द ज्योंही कानों में पहुँचे, जनता उत्सुक हो गई। क्या होने वाला है, कोई कल्पना नहीं, अन्दाज नहीं। हजारों आँखें आचार्यप्रवर के चेहरे पर केन्द्रित हो गईं।

आचार्यवर ने युवाचार्य महाप्रज्ञ को खड़े होने का निर्देश दिया। युवाचार्यश्री गुरु का निर्देश पाकर खड़े हो गए। आचार्यवर ने कहा—

‘यों तो मैं बार-बार कहता रहता हूँ कि तुम अपना काम संभालो, संघ-व्यवस्था अपने हाथ में लो, पर वह काम पूरा नहीं हुआ। इसलिए अब मैं अपने आचार्यपद का भार तुम्हें सौंप रहा हूँ, हस्तान्तरित कर रहा हूँ।’

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए आचार्यवर ने कहा—‘भिक्षु स्वामी और भारमलजी स्वामी साथ-साथ रहे। जयाचार्य ने मघवा को काम सौंपा और स्वयं निवृत्त हो गए। तुम्हें युवाचार्य बनाए पन्द्रह वर्ष हो गए, पर पूरा कार्य मैं ही कर रहा हूँ। तुम कार्यक्षम होते हुए भी दूसरे कामों में लगे हुए हो। अब मैं पूरा दायित्व तुम्हें सौंप रहा हूँ। मैं इस दायित्व को सौंपकर अपनी साधना और मानवजाति के लिए व्यापक कार्यक्रम में लगना चाहता हूँ।’ अपने वक्तव्य के उपसंहार में आचार्यवर ने कहा—‘तेरापंथ के भाग्यविधाता आचार्य भिक्षु और भिक्षु शासन की परंपरा के अनुसार आचार्य अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य की नियुक्ति करते हैं और मैंने भी की है। पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अपने युवाचार्य को आचार्य के रूप में नहीं देखा। मैं इसे देखना चाहता हूँ। अतः मैं निर्देश देता हूँ कि युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्य पद का दायित्व संभालें।’

आचार्य पद का विसर्जन : आचार्य पद का अभिषेक

आचार्य तुलसी ने आचार्य पद का विसर्जन कर एक नए इतिहास का सृजन किया, अभूतपूर्व उदाहरण उपस्थित किया। उन्होंने युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया। इस कार्य को वे विधिवत संपादित करना चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने देश की राजधानी दिल्ली को चुना। आचार्य पद का विसर्जन कर वे सुजानगढ़ से चले। जयपुर होते हुए दिल्ली पहुँचे। वहाँ अध्यात्म साधना केंद्र, महरौली में चातुर्मासिक प्रवास हुआ। उस चातुर्मास में गुरुदेव ने अपना पट्टोत्सव मनाने का निषेध किया। आचार्य महाप्रज्ञ ने उस दिन को धर्मसंघ के विकास का प्रतीक मानकर विकास-महोत्सव के रूप में आयोजित करने की स्वीकृति प्राप्त की। चातुर्मास के बाद मर्यादा-महोत्सव का समारोह भी वहीं होना निर्णीत हो गया।

वि.सं. 2051 (सन् 1995) मर्यादा-महोत्सव का त्रिदिवसीय कार्यक्रम शुरू हो गया। उस कार्यक्रम के मध्यवर्ती दिन में गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने आचार्य महाप्रज्ञ को एक नया नियुक्ति पत्र प्रदान किया, जो इस प्रकार है—

नियुक्ति पत्र

श्री जिनेन्द्राय नमः

श्री भी. भा.रा.ज.म.मा. डा. का. गुरुभ्यो नमः

तेरापंथ के अष्टम आचार्यश्री कालूगणी ने मुझे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। मैंने 58 वर्षों तक धर्मसंघ की सेवा की। वि.सं. 2050 (सन् 1994) सुजानगढ़ मर्यादा-महोत्सव के मध्य अन्तः प्रेरणा से अपने आचार्य पद का विसर्जन कर युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

वि. सं. 2051 (सन् 1995) दिल्ली मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आज माघ शुक्ला षष्ठी, रविवार के दिन मैं महाप्रज्ञ को विधिवत् आचार्य पद पर अभिषिक्त कर रहा हूँ। धर्मसंघ की परंपरा में यह एक नया प्रयोग है। आचार्य महाप्रज्ञ अपने प्रज्ञाबल से धर्मशासन की गौरववृद्धि करेंगे और मानवजाति का सही पथदर्शन करेंगे। हमारा विनीत एवं अनुशासित धर्मसंघ आज्ञा-मर्यादा का अखण्ड पालन करता हुआ उत्तरोत्तर विकास करेगा। आचार्य महाप्रज्ञ का शासनकाल अधिक यशस्वी और कार्यकारी बने, यह मेरी मंगल भावना है।

वि.सं. 2051, माघ शुक्ला षष्ठी, रविवार, गणाधिपति तुलसी
(वीर संवत् 2520)

(5 फरवरी 1995)अध्यात्म साधना केंद्र, महरौली

नई दिल्ली (भारत की राजधानी)

गुरुदेव ने अपने हाथ से लिखा हुआ एक विशेष आलेख आचार्य महाप्रज्ञ को प्रदान किया और आचार्य पद के अभिषेक की एक नई पद्धति ईजाद की। उसके अंतर्गत उन्होंने दाएं हाथ के अंगुष्ठ से क्रमशः दर्शन केंद्र, ज्योति केंद्र और शान्ति केंद्र का स्पर्श किया। उसके साथ-साथ लोगस्स के

अन्तिम पद्य का मांत्रिक संयोजना के रूप में उच्चारण किया। फिर आचार्य महाप्रज्ञ के मस्तक पर वरद हस्त टिकाकर 'आरोग्य बोहिलाभं' का वरदान दिया। अन्तिम चरण में चार शरणों का उच्चारण कर आध्यात्मिक अभिषेक का अनुष्ठान सम्पन्न किया। एक महान गुरु ने अपने युवाचार्य को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

मिलन केशी और गौतम का

दिल्ली से प्रस्थान कर गुरुदेव श्री तुलसी राजस्थान पहुँचे। सन् 1995 और 1996, ये दो चातुर्मास जैन विश्वभारती, लाडनूं में हुए। आचार्य महाप्रज्ञ साथ में रहे। उसके बाद गुरुदेव ने चिन्तनपूर्वक आचार्य महाप्रज्ञ को स्वतंत्र विहार करने का निर्देश दिया। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने सन् 1997 का मर्यादा-महोत्सव चाड़वास में आयोजित किया। उसके बाद 'हेम दीक्षा द्विशताब्दी' का कार्यक्रम बीदासर में समायोजित किया। बीदासर से प्रस्थान कर श्रीडूंगरगढ़, कालू, लूणकरणसर होते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञ बीकानेर पहुँचे। इधर गुरुदेव भी लाडनूं से विहार कर मध्यवर्ती क्षेत्रों का स्पर्श करते हुए बीकानेर पहुँच गए। 2 मई 1997 को दो ध्रुवों अथवा दो आचार्यों के मिलन का कार्यक्रम निर्धारित हुआ।

लगभग चार महीनों की स्वतंत्र यात्रा के बाद 2 मई 1997 को प्रातः दो धाराओं का मिलन हुआ। स्थान था बीकानेर का म्यूजियम मैदान। वृद्धजन भ्रमण पथ जनाकीर्ण हो गया। ठीक साढ़े सात बजे अलग-अलग दिशाओं से दो महान हस्तियों का आगमन हुआ। हजारों कंटों से एक साथ जय नानाद हुआ। गुरुदेव तुलसी ने हर्षाल्लास की मुद्रा में आचार्य महाप्रज्ञ को गले लगाया। गुरु-शिष्य की एकात्मकता हुई या दो आचार्यों का मिलन, यह एक प्रश्न था। इस प्रश्न को भाषा देते हुए गुरुदेव ने पूछा—'आज किनका मिलन हुआ है।' अनेक साधु-साध्वियों के स्वर एक साथ मुखरित हुए—'आज वीर और गौतम का मिलन हुआ है।' गुरुदेव ने इस बात को अस्वीकार करते हुए कहा—'वीर-गौतम का नहीं, केशी और गौतम का मिलन हुआ है।'

गुरुदेव की उक्त प्रज्ञापना ने स्पष्ट कर दिया कि उन्होंने अपने शिष्य को शिष्यत्व की भूमिका से ऊपर उठाकर पहले युवाचार्य और फिर आचार्य के

रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। गुरुदेव ने यह भी कहा कि उन्होंने जो प्रयोग किया है, वह 'न भूतो न भविष्यति'—तेरापंथ धर्मसंघ में आज तक ऐसा हुआ नहीं है और भविष्य में इसे परंपरा न बनाया जाए।

केशी भगवान पार्श्व की परंपरा के आचार्य थे और गौतम भगवान महावीर की परंपरा के। दो परंपराओं के दो आचार्यों के मिलन-प्रसंग को गुरुदेव ने एक ही परंपरा के दो आचार्यों के साथ जोड़कर प्रमाणित कर दिया कि यह एक अभूतपूर्व उदाहरण है।

संभालो प्रज्ञा का गाण्डीव

गुरुदेव तुलसी ने समय-समय पर अनेक बार फरमाया कि तुलसी-महाप्रज्ञ का युग बार-बार नहीं आएगा। उस युग को अप्रतिम बताते हुए उन्होंने कहा—'मैं मानता हूँ कि यह तेरापंथ के लिए स्वर्णिम समय है। 81 वर्ष मेरे और 75 वर्ष महाप्रज्ञजी के, दोनों के प्रौढ़ अनुभवों का उपयोग कर कार्य करना है और संघ के विकास के लिए नए आयाम देने हैं।'

आचार्य महाप्रज्ञ ने गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक बार कहा—'भारत में अनेक युद्ध हुए हैं। उनमें महाभारत की सबसे अधिक ख्याति है। उसका श्रेय अर्जुन को दिया जाता है। पर आप सोचें, अर्जुन का गाण्डीव क्या कर लेता यदि उसके सारथि श्रीकृष्ण नहीं होते। इसी प्रकार गुरुदेवश्री ने मुझे बुलाया और कहा—रथ में बैठो, प्रज्ञा का गाण्डीव संभालो और सारथि मैं बनूंगा। जहाँ कृष्ण सारथि हैं, वहाँ अर्जुन निश्चित है और विजयश्री भी निश्चित है। मेरे गुरु मेरे सारथि हैं, फिर मुझे विजय में किंचित भी आशंका नहीं है।'

गुरुदेव तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ के अनेक वक्तव्य ऐसे हैं, जो दोनों महान विभूतियों के तादात्म्य को अभिव्यक्ति देने वाले हैं। जहाँ इतनी एकात्मकता हो, जहाँ वात्सल्य और समर्पण का विरल योग हो, वहाँ कुछ भी घटित हो सकता है। इस दृष्टि से यह मानना भी अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि एक महासागर से प्रज्ञासागर का अविर्भाव हुआ।

13. दुर्लभ त्रयी के संगम

आचार्यश्री महाश्रमण अनेक विशिष्ट गुणों के समवाय हैं। कुछ गुण नैसर्गिक हैं और कुछ गुण अर्जित भी हैं। अनेक गुणों को एक साथ देखकर संस्कृत का एक श्लोक स्मृति-फलक पर उभर कर सामने आ रहा है। उसे कुछ परिवर्तन के साथ प्रस्तुति दी जा रही है-

क्वचिद् भवेदाकृतिरेव सुन्दरा,
न चापि सौभाग्यमभंगुरस्थिति।
क्वचित् पुनः स्थेयसि तत्र न ज्ञता,
विभाव्यते युष्मदि तत्रयं कथम्॥

किसी व्यक्ति की आकृति सुन्दर होती है, पर उसका सौभाग्य शाश्वत नहीं होता। कहीं सौभाग्य स्थिर होता है, पर उसमें अभिज्ञता नहीं होती। उक्त तीनों बातें तुम्हारे व्यक्तित्व में युगपत कैसे परिलक्षित हो रही है?

आचार्यश्री महाश्रमण बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के व्यक्तित्व से सम्पन्न है। आचार्यश्री महाश्रमण की आकृति तो सुन्दर है ही, उससे भी अधिक सुन्दर है उनकी प्रकृति-स्वभाव। प्रकृति का सौन्दर्य आकृति के सौन्दर्य को शतगुणित कर देता है। इस अवधारणा की पुष्टि के लिए निदर्शन रूप में आचार्यश्री महाश्रमण को प्रस्तुत किया जा सकता है।

आचार्यश्री महाश्रमण के जीवन में भाग्य और पौरुष का अद्भुत योग है। किशोरवय में वैराग्य का अंकुरण और संयमरत्न की उपलब्धि उनके सौभाग्य का सूचक है तो आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ का सान्निध्य और कृपाभाव भी सौभाग्य के अभाव में मिलना मुश्किल है। तेरापंथ जैसे अनुशासित धर्मसंघ का नेतृत्व और लगभग आठ सौ शिष्य-

शिष्याओं की सम्पदा भी भाग्य से ही मिल पाती है। इसी प्रकार अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि जनोपयोगी व्यापक कार्यक्रमों को गतिशील बनाए रखना भी भाग्य की बात है।

भाग्य का निर्माता व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ होता है। आचार्यश्री महाश्रमण पुरुषार्थ के पर्याय हैं। उन्होंने पुरुषार्थ की जो लौ प्रदीप्त की, उसे देखकर ही आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने उनके लिए महाश्रमिक और महातपस्वी जैसे सम्बोधनों का उपयोग किया। इसी कारण उनके प्रति जन-जन के अन्तःकरण में श्रद्धा का समन्दर लहरा रहा है।

अपने शासनकाल के तीन वर्षों में ही आचार्यश्री महाश्रमण ने अपनी जीवन शैली चिन्तन प्रणाली और कार्यपद्धति से लोकमानस पर जो प्रभाव छोड़ा है, वह अनिर्वचनीय है। समय की रफ्तार अपनी गति के साथ आचार्यश्री के प्रभाव को व्यापक बनाती रहेगी, यह विज्ञापित करने की अपेक्षा नहीं है। समय स्वयं ही उनके वर्धमान वर्चस्व का साक्षी बनेगा, ऐसा विश्वास है।

14. अनिर्वचनीय व्यक्तित्व के धनी

भारतवर्ष अध्यात्म-प्रधान देश हैं। इस देश की धरती पर अनेक महापुरुष अवतरित हुए हैं। महापुरुष कौन होता है? इस प्रश्न के समाधान में अनेक परिभाषाएं गढ़ी जा चुकी हैं और गढ़ी जा सकती हैं, क्योंकि चिन्तन का वातायन जब खुलता है तो उससे छनकर आने वाली रोशनी में नए प्रतिमान रूपायित होते रहते हैं। उन प्रतिमानों पर विचार करते-करते दो बिन्दुओं पर मेरा ध्यान केन्द्रित हो रहा है—

- महापुरुष वह होता है, जिसकी जीवनशैली आम आदमी से भिन्न प्रकार की होती हैं।
- महापुरुष वह होता है, जिसके आभामंडल का साक्षात्कार होते ही मन में सहज आश्वास और विपुल विश्वास जाग जाता है।

आचार्य महाश्रमण इक्कीसवीं सदी में तेरापंथ को नेतृत्व देने वाले अनुशास्ता है। प्रखर बौद्धिकता का युग और प्रबुद्ध साधु-साध्वियों का बड़ा समूह। उसे एक सूत्र में बांधकर रखना कोई सरल काम नहीं है। यह काम वही कर सकता है, जिसका चिन्तन और जीवन कुछ विशिष्ट हो। विशिष्ट कुछ आम भी हो सकता है और खास भी हो सकता है।

चलना, बैठना, सोना, बोलना, खाना, पीना आदि आम बातें हैं। आत्मानुशासन, इन्द्रियनिग्रह, कषायनिग्रह, वाणी-संयम आदि खास बातें हैं। आचार्य श्री महाश्रमण ने दोनों दृष्टियों से अपनी पहचान बनाई है। प्रस्तुत प्रसंग में आचारांग सूत्र का एक सूक्त मननीय है—**अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा**—अध्यात्म तत्त्वदर्शी वस्तुओं का परिभोग अन्यथा—अनासक्त भाव से करे। अध्यात्म के तत्त्व को नहीं जानने वाला मनुष्य जैसे करता है, वैसे न करे।

पश्यक/द्रष्टा वह होता है, जो आत्मतत्त्व और परमतत्त्व दोनों को जानता है। पश्यक का खाना-पीना मात्र देह धारण के लिए होता है। वह उनमें आसक्त नहीं होता। अनासक्ति का दर्शन अध्यात्म का दर्शन है। अनासक्त चेतना का विकास होने के बाद पदार्थ के प्रति होने वाला ममत्वभाव अपने आप कम हो जाता है या समाप्त हो जाता है। अध्यात्म के शिखर पर आरोहण करने के लिए अनासक्ति का सोपान के रूप में उपयोग हो सकता है।

आचार्यश्री महाश्रमण की बाह्य एवं अन्तरंग वृत्तियों और प्रवृत्तियों का निरीक्षण या विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है कि उनकी छोटी से छोटी प्रवृत्ति आम आदमी से हटकर विलक्षण तरीके से सम्पादित होती है।

अनिर्वचनीय व्यक्तित्व के धारक

एक संस्कृत कवि ने विद्वान व्यक्तित्व की मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को विलक्षण और अनिर्वचनीय निरूपित करते हुए लिखा है—

अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
 रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
 लोकोत्तरा च कृतिराकृतिरार्तहृद्या,
 विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः॥

विद्वान लोगों की मानसिक प्रवृत्ति जगत के हित-चिन्तन में निरत रहती है, इसलिए वह साधारण लोगों से भिन्न प्रकार की होती है। मनःप्रवृत्ति की तरह उनकी वाणी भी भिन्न प्रकार की होती है। उनका कार्य/आचरण लौकिक व्यक्तियों की भांति नहीं होता, इसी दृष्टि से उन्हें लोकोत्तर माना जाता है। उनकी आकृति कष्टग्रस्त व्यक्तियों को आनन्द देने वाली अथवा उन्हें सम्मोहित करने वाली होती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विद्वान व्यक्तियों का सब कुछ अनिर्वचनीय होता है।

आचार्यश्री महाश्रमण विद्वान तो हैं ही, विद्वान होने के साथ-साथ अध्यात्म के महान साधक और एक विशाल धर्मसंघ के अनुशास्ता भी हैं।

आचार्यश्री को निकटता से देखने-परखने वाले अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी मनोवृत्ति कितनी उदात्ते है, उनका वाणी-संयम कितना विलक्षण हैं और उनके कार्य कितने परोपकार-परायण हैं। उनके निकट पहुंचते ही दर्शक सम्मोहित हो जाते हैं, निर्निमेष उन्हें निहारते रहते हैं। इस स्थिति में यही मानकर संतोष करना होगा कि आचार्यश्री का व्यक्तित्व अनिर्वचनीय है। शब्दों के द्वारा उसे व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।

युगप्रधान आचार्य तुलसी

बीसवीं सदी के महापुरुषों में एक जाना-पहचाना नाम है आचार्यश्री तुलसी। महापुरुष कौन होता है? प्रश्न जितना सरल है, उत्तर उतना ही मुश्किल है। एक विचारक के अनुसार महापुरुष वह होता है, जिसकी एक सदी के बाद भी पहचान बनी रहे अथवा जो आगे आनेवाले सौ वर्षों के बाद की स्थितियों का आकलन कर उनके अनुरूप अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करे। आचार्य तुलसी इन दोनों ही परिभाषाओं के फ्रेम में फिट बैठते हैं। अपनी उपस्थिति से बीसवीं सदी को उपकृत करनेवाले वे आचार्य इक्कीसवीं सदी में भी अपने विचार-शरीर से उतने ही प्रासंगिक बने हुए हैं। उनके कर्तृत्व की अनुगूंज आज भी सबको जगा रही है।

1. युगप्रधान आचार्य तुलसी

भारत की संस्कृति अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है। इस संस्कृति को ऐसे विलक्षण मनीषी सन्तों ने संवारा और निखारा है, जिनके आध्यात्मिक तेज से दिग्-दिगन्त आलोकित होते रहे हैं। अध्यात्म की यह परम्परा इतनी प्राचीन है कि वहां इतिहास की पहुंच ही नहीं है। प्राग् ऐतिहासिक काल से चली इस परम्परा को इतिहासकारों ने जब कलमबद्ध किया, उस समय यह श्रमण परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। भगवान महावीर इस परम्परा के ऐसे सार्थवाह थे, जिनके प्रभावी नेतृत्व में हजारों-लाखों लोगों ने अपनी मंजिल प्राप्त की।

महावीर के सक्षम प्रतिनिधि

भगवान महावीर अध्यात्म के क्षितिज पर सूरज बनकर चमके। उनकी ज्ञान-रश्मियों के संवाहक उत्तरवर्ती आचार्य अपनी क्षमता एवं अवसर के अनुसार इस परम्परा को पुरोगामी बनाते रहे। उन आचार्यों में एक नाम है सन्त भीखणजी, जो आगे चलकर आचार्य भिक्षु के नाम से विश्रुत हुए। आचार्य भिक्षु एक क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने अध्यात्म/धर्म की ज्योति को धूमिल करनेवाली राख को हटाकर उसे पुनः तेजोमय बनाने के लिए धर्मक्रान्ति की। उनके द्वारा की गई धर्मक्रान्ति का फलित है तेरापंथ। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के संस्थापक आचार्य थे। तेरापंथ की गौरवशाली आचार्य परम्परा में नौवें स्थान पर आचार्य तुलसी का नाम है, जो मानवता के मसीहा बनकर जन-जन की आस्था के केन्द्र हो गए। एक सम्प्रदाय की सीमा में रहकर भी सम्पूर्ण मानवजाति के लिए काम करनेवाला वह महापुरुष कौन था?

उसका जन्म कब और कहां हुआ? उसका व्यक्तित्व कैसा था? उसके कर्तृत्व का परिचय कैसे मिल सकता है? ये जिज्ञासाएं उन सब लोगों की हैं, जो आचार्य तुलसी को जानना और समझना चाहते हैं।

होनहार विरवान के होत चिकने पात

आचार्य तुलसी का जन्म भारत में राजस्थान के नागौर जिले के एक छोटे-से कस्बे लाडनूं में हुआ। उनकी प्राथमिक शिक्षा लाडनूं में ही हुई। ग्यारह वर्ष की किशोरवय में उन्होंने अपने धर्मगुरु तेरापंथ के आठवें अधिशास्ता श्री कालूगणी से दीक्षा स्वीकार की। उन्हें अपने गुरु का सान्निध्य केवल ग्यारह वर्षों का ही मिला। उस समय में उन्होंने अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन, प्रशासन आदि विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट योग्यता अर्जित कर गुरु का विश्वास प्राप्त कर लिया। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि गुरु ने अपने शिष्य को दीक्षित करते समय ही उसमें निहित विलक्षण संभावनाओं का अनुभव कर लिया। उसी आधार पर उन्होंने ग्यारह वर्ष की छोटी-सी कालावधि में उसको आचार्य पद की अर्हता तक पहुंचा दिया। मात्र बाईस वर्ष की अवस्था में मुनि तुलसी को अपना उत्तराधिकारी बनाकर पूज्य कालूगणी दिवंगत हो गए। एक बाईसवर्षीय युवा सन्त के कंधों पर विशाल धर्मसंघ का समग्र उत्तरदायित्व आ गया। उन्होंने लगभग पांच सौ साधु-साध्वियों के सर्वांगीण और लाखों श्रावक-श्राविकाओं के आध्यात्मिक नेतृत्व की जिम्मेदारी जितनी सहजता से संभाली, उतनी ही सहजता से सम्पूर्ण मानवजाति को पथदर्शन देकर यह प्रमाणित कर दिया कि **होनहार विरवान के होत चिकने पात।**

आचार्य तुलसी का भाग्य प्रबल था और पुरुषार्थ में उनका गहरा विश्वास था। उन्होंने जो सोचा और कहा, वह करके दिखाया। जो चाहा, वह अनायास ही मिलता गया। गुरु की अपेक्षाओं पर वे खरे उतरे। विरोधों/संघर्षों ने साये की तरह उनका पीछा किया, पर वे कभी रुके नहीं और काम करते थके भी नहीं। व्यक्तित्व-निर्माण का कोई विशेष हुनर

उनके पास था। वे एक के बाद एक इस तरह अनेक व्यक्तियों का निर्माण करते रहे। अपने शिष्यों में संभावित व्यक्तित्व को तलाशने और तराशने की अद्भुत कला उनके पास थी। उनके कर्तृत्व की कहानी इतनी लम्बी है कि उसके ओर-छोर को पकड़ा भी नहीं जा सकता। आसमानों की बुलन्दी पर खड़े एक इन्सान की सादगी यदि किसी को देखनी है तो आचार्य तुलसी के जीवन-दर्शन में देखी जा सकती है।

व्यक्तित्व की झलक

गौर वर्ण, मझला कद, पारदर्शी चमकीली आंखें, उजला आभामंडल, आत्मविश्वास की प्रतीक सघन भौहें, विलक्षण कान, शौर्य का साक्ष्य भरते कानों के बाल, सुन्दर नासिका, दृढ़ निश्चय को अभिव्यक्ति देनेवाला चिबुक, ओजपूर्ण वाणी, सुरीला स्वर, गुलाब की तरह खिलता चेहरा, दो पैरों से पूरी धरती को मापने का उत्साह, अनुगामियों को अपने साथ बहाकर ले चलने वाली गति और आशीर्वाद की मुद्रा में उठा हुआ हाथ—यह था आचार्य तुलसी का बाह्य व्यक्तित्व जो प्रथम दर्शन में ही दर्शक को अपना बना लेता था।

वीतरागता के हिमालय पर आरोहण करने का लक्ष्य, अध्यात्म की अबूझ प्यास, महावीर के समता-दर्शन को आत्मसात करने का अटूट संकल्प, महावीर-वाणी का आलोक पूरे विश्व में फैलाने का सपना, मानवीय मूल्यों के क्षरण से संवेदित हृदय, जातिवाद और सम्प्रदायवाद की दीवारों को ढहाकर मानवजाति को भाईचारे के पवित्र धागे से आबद्ध करने का विनम्र प्रयास, शिशु-सी सरलता व निश्छल मुस्कान, युवा-सा अदम्य जोश, मखमल-सी कोमलता, वज्र-सी कठोरता, धरती-सी धृति, सागर-सी गंभीरता, संघर्षों से जूझने का जज्बा, नए-नए सपने देखने और उन्हें सच में बदलने के लिए अनवरत किए जाने वाले पुरुषार्थ की लौ को प्रदीप्त रखना—यह था आचार्य तुलसी का अन्तरंग व्यक्तित्व, जो मित्ती मे सव्वभूएसु, वसुधैव कुटुम्बकम् और ग्लोबल विलेज जैसी उदात्त भावनाओं के तानों-बानों से बुना हुआ था।

व्यक्तित्व-निर्माण की दिशाएं

आचार्य तुलसी का व्यक्तित्व निसर्ग-सिद्ध था। प्रकृति ने उनको वह सब कुछ दिया था, जिससे व्यक्तित्व बनता है। गुरु कृपा से व्यक्तित्व में निखार आया और वे आचार्य पद पर अभिषिक्त हो गए। दायित्व की वल्ला हाथ में थामने के बाद उन्होंने संघ और समाज के भविष्य का एक सुन्दर-सा रेखाचित्र बनाया। रेखाचित्र में रंग भरने का उपक्रम प्रारंभ हुआ। सबसे पहले संघ की शैक्षणिक स्थिति का आकलन कर साध्वी-समाज को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया। अध्यापन की अन्य समीचीन व्यवस्था के अभाव में वे स्वयं अध्यापक बने। अपने अध्यापन-कौशल से उन्होंने कुछ ही वर्षों में ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया, जिससे शिक्षा के क्षेत्र में नए-नए क्षितिज खुलते चले गए। वर्तमान में साध्वी-समाज और समण-श्रेणी में शिक्षा का जो विकास परिलक्षित हो रहा है, उसकी बुनियाद आचार्य तुलसी के पुरुषार्थ से परिपक्व होकर मजबूत बनी है।

अपने धर्मसंघ को शिक्षा के क्षेत्र में गतिशील बनाने के लिए आचार्य तुलसी ने एक नई शिक्षानीति की योजना बनाई। उस योजना के अनुसार सप्तवर्षीय आध्यात्मिक पाठ्यक्रम तैयार किया गया। दीर्घकाल तक एक व्यवस्थित पाठ्यक्रम के माध्यम से संघ की युवापीढ़ी निष्णात बने और उसमें समाज की युवापीढ़ी को प्रबोध देने की क्षमता का विकास हो, इस उद्देश्य से लागू किए गए पाठ्यक्रम का अध्ययन कर सैकड़ों साधु-साध्वियों ने अपनी गुणवत्ता बढ़ाने में सफलता प्राप्त की।

साधु-साध्वियों की ज्ञान-चेतना विकसित करने के साथ आचार्यश्री ने स्वयं को भी ज्ञान के अतल सागर में उतारने का निश्चय किया। जैन आगम, संस्कृत व्याकरण, संस्कृत शब्दकोश, संस्कृत साहित्य आदि का गंभीर अध्ययन उनकी प्रतिभा का परिचायक था, पर वे दर्शन, न्याय आदि छूते विषयों में भी प्रवेश कर उनका तलस्पर्शी ज्ञान हस्तगत करना चाहते थे। दायित्व-निर्वाह की प्रतिबद्धता के साथ उन्होंने इस नई दिशा में प्रस्थान किया। न समुचित संसाधन और न ही किसी विशेषज्ञ शिक्षक का योग, फिर भी कारवां चलता रहा और एक समय ऐसा आया, जब आचार्य

तुलसी ने न्याय व दर्शन के ज्ञाता एवं व्याख्याता की भूमिका से भी आगे संस्कृत भाषा में इन विषयों के ग्रन्थों का प्रणयन कर विद्वज्जगत को चमत्कृत कर दिया। उनके द्वारा लिखित जैनसिद्धान्तदीपिका, भिक्षुन्यायकर्णिका, मनोनुशासनम् आदि ग्रन्थरत्न संस्कृत साहित्य की अमूल्य धरोहर के रूप में समादृत हो रहे हैं।

2. महान परिव्राजक

बीसवीं सदी के महापुरुषों में एक जाना-पहचाना नाम है आचार्यश्री तुलसी। महापुरुष कौन होता है? प्रश्न जितना सरल है, उत्तर उतना ही मुश्किल है। एक विचारक के अनुसार महापुरुष वह होता है, जिसकी एक सदी के बाद भी पहचान बनी रहे अथवा जो आगे आनेवाले सौ वर्षों के बाद की स्थितियों का आकलन कर उनके अनुरूप अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करे। आचार्य तुलसी इन दोनों ही परिभाषाओं के फ्रेम में फिट बैठते हैं। अपनी उपस्थिति से बीसवीं सदी को उपकृत करनेवाले वे आचार्य इक्कीसवीं सदी में भी अपने विचार-शरीर से उतने ही प्रासंगिक बने हुए हैं। उनके कर्तृत्व की अनुगूंज आज भी सबको जगा रही है।

पदयात्रा जैन मुनि का जीवन व्रत होता है। वह जिस दिन प्रव्रजित होता है, पदव्रज्या का क्रम शुरू हो जाता है। आचार्य तुलसी ने दीक्षा स्वीकार करने के तत्काल बाद लाडनूं से सुजानगढ़ के लिए प्रस्थान कर दिया। ग्यारहवर्षीय बाल मुनि ने प्रथम बार में ग्यारह किलोमीटर का रास्ता उत्साह के साथ पार कर लिया। उसके बाद तो किलोमीटर का ग्राफ भी बढ़ता चला गया और यात्रा का सिलसिला आगे बढ़ता रहा। **चरैवेति-चरैवेति चरन् वै मधु विन्दते** के अनुसार वे चलते रहे और अपनी अनुभव सम्पदा को बढ़ाते रहे। शुरुआती दो दशकों तक उनका विहार-क्षेत्र सीमित रहा। तीसरे दशक में उन्होंने भारत की राजधानी दिल्ली में अपने सम्पर्कों को इतना व्यापक बनाया कि उनका सन्देश देश की सरहदों को पार कर विदेश तक पहुंच गया।

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार हिन्दुस्तान में वही व्यक्ति सफल होता है, जो घुमक्कड़ हो। प्लेन, ट्रेन, बस, कार आदि से भी यात्रा हो सकती है।

पर पदयात्रा से जो उपलब्धियां होती हैं, उनकी तुलना अन्य किसी यात्रा से नहीं हो सकती। आचार्य तुलसी ने पांव-पांव चलकर कच्छ से कोलकाता और पंजाब से कन्याकुमारी तक भारत की धरती को अपनी पदधूलि से पावन किया।

आचार्यश्री ने राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, दिल्ली, चंडीगढ़, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, गुजरात, खानदेश, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल आदि देश के विभिन्न प्रदेशों की यात्राएं एक विशेष मिशन के साथ कीं। कन्याकुमारी पहुंचकर आचार्यश्री ने तीन समुद्रों की साक्षी से मानवजाति के लिए जो सन्देश दिया, वह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। इन यात्राओं में आचार्यश्री मजदूर की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन और भारतीय संसद भवन तक पहुंचे। उनकी प्रेरणा से लाखों व्यक्ति नशामुक्त बने। हजारों लोगों ने अपनी जीवनशैली में बदलाव लाने का लक्ष्य बनाया और विभिन्न क्षेत्रों के सैकड़ों प्रबुद्ध व शीर्षस्थ व्यक्ति आचार्यश्री के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से विशेष रूप से प्रभावित हुए। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि वे जिन-जिन ढाणियों, गांवों, कस्बों, नगरों एवं महानगरों में गए और रहे, वहां लोकजीवन में परिवर्तन की नई लहर आ गई।

अपनी दक्षिण भारत की यात्रा में आचार्यश्री ने तमिलनाडु के हिन्दी विरोधी वातावरण की उग्रता को शान्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके सकारात्मक प्रयास ने उत्तर और दक्षिण के बीच सेतु का काम किया, यह भी एक यथार्थ है। इतिहास के लेखक यदि इस प्रसंग को अपनी लेखनी का विषय नहीं बना पाए तो वहां का इतिहास अधूरा रह जाएगा।

आचार्यश्री ने अणुव्रत जैसे सार्वभौम और सार्वजनिक कार्यक्रम को आधार बनाकर अपनी यात्राओं को विस्तार दिया। इसके साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि सुदूर प्रदेशों की यात्राओं से उनके कार्यक्रम को व्यापकता मिली है। यात्रा/पदयात्रा को वे ज्ञान, अनुभव, सम्पर्क तथा कार्य-कार्यक्रम को विस्तार का सक्षम माध्यम मानते थे।

आचार्य तुलसी की महत्वपूर्ण पदयात्राएं—

संवत्	सन्	क्षेत्र
2005-2009	1949-1953	बीकानेर से जयपुर, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, पंजाब, दिल्ली, हरियाणा राजस्थान
2010-2013	1953-1957	राजस्थान से गुजरात, मुम्बई, खानदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान
2014-2017	1957/58-1961	राजस्थान से उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान
2022-2023	1965-1966	राजस्थान से दिल्ली, हरियाणा
2022-2028	1967-1972	राजस्थान से गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, आंध्रप्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान
2029-2032	1972-1976	राजस्थान से हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान
2035-2038	1978-1981	राजस्थान से हरियाणा, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, हरियाणा, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, राजस्थान
2039-2042	1983-1986	राजस्थान से गुजरात, राजस्थान
2044	1987	दिल्ली, हरियाणा
2045-49	1988-1993	राजस्थान
2050	1994	दिल्ली, हरियाणा
2051-2054	1995-1997	राजस्थान

3. महान समाज-सुधारक

भारतवर्ष में अनेक धार्मिक और सामाजिक परम्पराएं हैं। उन परम्पराओं का प्रभाव देश के प्रायः सभी वर्गों पर होना स्वाभाविक है। समय-समय पर कुछ ऐसे महान विचारक होते रहे हैं, जिन्होंने समाज के विकास में बाधक परम्पराओं के विरोध में आवाज उठाई। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महानुभावों ने अपने युग में प्रचलित बाल-विवाह प्रथा, दहेज प्रथा, सती प्रथा आदि सामाजिक कुप्रथाओं को समाप्त करने की अपील के साथ स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल दिया। इससे समाज में थोड़ा बहुत बदलाव आया, किन्तु वे कुप्रथाएं जड़ से नहीं उखाड़ी जा सकीं। स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी और डॉ. भीमराव अम्बेडकर को भारत में सामाजिक परिवर्तन की नींव माना गया है। उन्होंने धर्म को क्रियाकांडों के कटघरे से बाहर निकालने, जातिगत असमानताओं को दूर करने, छुआछूत जैसी संकुचित विचारधाराओं को बदलने, शोषितवर्ग को संगठित कर अपने अधिकारों के लिए सजग करने तथा महिला उत्पीड़न के विरोध में अलग-अलग अभियान चलाकर परिवर्तन की नई लहर लाने का प्रयास किया।

कुछ सामाजिक कुप्रथाएं व्यापक रूप में अपनी जड़ें जमा चुकी थीं। जैन समाज भी उनकी गिरफ्त से मुक्त नहीं था। भगवान महावीर एक क्रान्तिकारी धर्मप्रवर्तक थे। उन्होंने ढाई हजार वर्ष पहले दासप्रथा, जातिवाद, महिला-पुरुष की असमानता आदि सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध शाब्दिक रूप में नहीं, क्रियात्मक रूप में करने के लिए उक्त प्रकार के व्यक्तियों को अपने संघ में दीक्षित किया।

महावीर की परम्परा में ही एक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए, जिनका नाम था आचार्य भिक्षु। उन्होंने सामाजिक कुप्रथाओं का मनोवैज्ञानिक तरीके से विरोध किया और अन्धविश्वासों की पोल खोलकर समकालीन समाज पर अपना विशेष प्रभाव स्थापित किया। आचार्य भिक्षु से विरासत में प्राप्त क्रान्तिकारी चिन्तन को व्यापक रूप में क्रियान्वित करने का काम आचार्य तुलसी ने किया।

देश की आजादी के बाद कुछ सुधारवादी व्यक्ति आचार्यश्री के पास आकर बोले—‘आचार्यजी! राजस्थान में पर्दाप्रथा, दहेजप्रथा आदि कुरीतियां समाज के विकास में बाधक हैं। आप इस बारे में लोगों का पथदर्शन करें।’ आचार्यश्री बोले—‘यह काम तो आप लोग कर ही रहे हैं।’ आगन्तुक व्यक्तियों ने निवेदन किया—‘हमारे कथन का असर होता तो अब तक समाज बदल जाता। समाज की महिलाएं आप पर श्रद्धा रखती हैं। आप इन्हें तरीके से समझा सकते हैं। आपका निर्देश ये अस्वीकार नहीं करेंगी।’

समाज-सुधार की दृष्टि से जैन साधुओं को बोलना चाहिए या नहीं? यह एक नया प्रश्न था। इस पर गहरा विचार करने के बाद आचार्यश्री ने यह निष्कर्ष निकाला—हम धर्म के आदमी हैं। बुराई पर प्रहार करना, बुराई दूर करना धर्म का काम है। बुराई कोई भी हो और व्यक्ति, समाज, राजनीति या धर्मनीति किसी भी क्षेत्र में हो, उसका प्रतिकार करना धर्मगुरुओं का कर्तव्य है।

कर्तव्य की भावना बलवती हुई और आचार्यश्री ने व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन करने के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन कर धर्म को सार्वभौम या असाम्प्रदायिक रूप दे दिया।

किसी भी समाज का ढांचा नैसर्गिक रूप में सुन्दर/व्यवस्थित नहीं होता। न जाने कितने व्यक्तियों का चिन्तन और श्रम लगता है तब सामाजिक चेतना में बदलाव आता है। कभी-कभी स्वस्थ समाज में भी विकृतियों का घालमेल होने लगता है। उसके परिणाम को जानते-समझते हुए भी उसे

बहुमत की स्वीकृति मिल जाती है। ऐसी अर्थहीन और आर्थिक दृष्टि से बोझिल परम्पराएं समाज को रसातल की ओर ले जाती हैं। इस स्थिति का आकलन कर आचार्यश्री ने अपने निकटवर्ती समाज को क्रान्ति के लिए आह्वान किया।

सामाजिक क्रान्ति के प्रथम चरण में आचार्यश्री ने पर्दाप्रथा के विरोध में आवाज उठाई। पर्दा कायरता का प्रतीक है, हिंसा को बढ़ावा है और विकास में बाधक है, इस अवधारणा को बद्धमूल बनाने के लिए उन्होंने प्रस्तुत सन्दर्भ में बोलना एवं लिखना प्रारम्भ किया। इससे समाज में एक हलचल-सी मच गई। आचार्यश्री के विचारों की खिलाफत हुई और साधु-संस्था को इस प्रकार के सामाजिक कार्यों से दूर रहने की हिदायत दी गई।

आचार्यश्री बिना सोचे-विचारे, कोई काम नहीं करते थे। यदि वे चिन्तनपूर्वक किसी काम को हाथ में ले लेते तो कोई विरोध या अवरोध उन्हें उससे विरत नहीं कर पाता था। उन्होंने प्रवचनों और संगोष्ठियों के माध्यम से ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया, जिसने समाज के चिन्तनशील/प्रगतिशील युवकों को प्रभावित किया। उनके प्रोत्साहन से कुछ युवा महिलाएं साड़ी पहनकर बिना पर्दे घर से बाहर आईं तो समाज में भूचाल-सा आ गया। कुछ लोगों ने युवतियों के साहस को दुस्साहस बताया, किसी परिवार ने ऐसी महिला को साथ रखने से इंकार कर दिया और किसी ने उसके साथ संवाद करने का रास्ता ही बन्द कर दिया। क्रान्ति चाहे छोटी हो या बड़ी, उसके लिए पहल करनेवालों के प्रति प्रायः नकारात्मक सोच ही मुखर होती है। इस स्थिति से घबराकर पीछे लौट जानेवाले हताशा के अभिशाप को भोगते हैं। इतिहास उन्हीं का बनता है, जो मान-अपमान और सुविधा-दुविधा की परवाह किए बिना किसी क्रान्तिकारी अभियान के साथ जुड़ते हैं और अनवरत आगे बढ़ते रहते हैं। आचार्यश्री की प्रेरणा से कुछ बहनों ने जो साहसिक कदम उठाया, उसके कुछ ही दशकों बाद पूरा महिला-समाज पर्दे की अंधेरी और संकरी गलियों से बाहर निकलकर उजालों से भरे विशाल राजपथ पर आ गया।

पर्दाप्रथा की तरह ही समाज में अन्य अनेक प्रकार की कुरूढ़ियों का प्रचलन था। मृत्यु के प्रसंग में प्रथा रूप में रोने की बात भी रूढ़ि बन चुकी थी। एक गांव में रहनेवाली मृतक की संबंधी महिलाओं को कितनी ही दूरी से उसके घर जाना हो अथवा मृतक के निकट संबंधियों के पास जाकर बैठना हो, जोर-जोर से रोना और बीच-बीच में छाती-माथा पीटते हुए रोना एक मान्य परम्परा बन गई थी। मन में दुःख हो या नहीं, रोना जरूरी था। कदाचित्त ऐसा भी होता था कि आंख में आंसू न आने पर थूक लगाकर आंसू बहाने का बहाना बनाया जाता। कभी-कभी रोनेवाली महिलाओं को किराए पर भी बुलाया जाता था। यत्र-तत्र पुरुष भी रोते थे। हालांकि असमय में या आकस्मिक रूप में अपने प्रिय व्यक्ति के वियोग से आंखें गीली हो सकती हैं, पर सशब्द रुदन करना और छाती- माथा पीटना किसी स्वस्थ परम्परा की पहचान नहीं है। इस चिन्तन के आधार पर आचार्यश्री ने समाज को पथदर्शन दिया और इस कुरूढ़ि की जड़ें उखड़ गईं।

एक समय था, जब समाज में विधवा महिलाओं की स्थिति अत्यधिक दयनीय थी। पति की मृत्यु के बाद स्त्री के लिए रोना-धोना तो अनिवार्य होता ही था, उसे कमरे के एक कोने में बिठा दिया जाता। वहीं खाना-पीना और वहीं रहना। छह- छह, बारह-बारह महीनों तक घर से बाहर नहीं जाना। उसके पहनावे में आमूलचूल बदलाव लाना। प्रायः काले या उससे मिलते-जुलते रंग के कपड़े पहनना। घर-परिवार के किसी भी शुभ कार्य में उसकी उपस्थिति को अमंगल का प्रतीक मानना आदि परम्पराएं समाज में बिना किसी रुकावट के चलती थीं। कैसी जिन्दगी जीती होंगी वे महिलाएं। उनके खान-पान पर कई प्रकार की बंदिशें धर्म के नाम पर लगा दी जातीं। कोई विधवा महिला पुत्रवती होती और उसका पुत्र वयस्क, समझदार व अर्थार्जन में सहयोगी होता तो बात अलग, अन्यथा कहीं-कहीं तो संयुक्त परिवार में उसकी स्थिति एक नौकरानी से भी बदतर हो जाती, जिसके लिए दिनभर काम करने के बदले भोजन, वस्त्र आदि प्राथमिक अपेक्षाओं की पूर्ति कर दी जाती। इस स्थिति से गुजरनेवाली युवा महिलाओं के भी घुटने

जाम हो जाते और कमर झुक जाती। इस बात को यों भी माना जा सकता है कि उनके शरीर पर असमय में ही बढ़ापा उतर जाता।

शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से प्रताड़ित उन महिलाओं के जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी यह थी कि वे किसी के सामने मुंह भी नहीं खोल पातीं। यदा-कदा उन पर व्यंग्य-बाणों की बौछार भी होती रहती। कहीं उन्हें डायन का खिताब मिलता और कहीं श्वसुर-गृह में उनके प्रवेश को ही अपशकुन माना जाता। अपने ही परिवार के निकटतम सदस्यों के ऐसे रवैये में वे अपनी व्यथा-कथा किसी को भी नहीं सुना सकती थीं। कदाचित किसी महिला के मुख से आकस्मिक रूप में भी कोई बात निकल जाती तो उसका बड़ा दुष्परिणाम भोगना पड़ता।

शिष्ट और शालीन कहलानेवाले समाज का भीतरी रूप इतना बदसूरत हो सकता है, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्य तुलसी ने भारत की आजादी के बाद स्वस्थ समाज की परिकल्पना की। समाज-सुधार की दृष्टि से उन्होंने जो कार्यक्रम निर्धारित किया, उसका एक बिन्दु यह भी था कि परिवार में उपेक्षित और प्रताड़ित विधवा महिलाओं को भी सम्मान के साथ जीने का अधिकार मिले।

उस युग की मानसिकता को बदलकर सामाजिक कुरूढ़ियों का कसा हुआ शिकंजा ढीला करने के लिए आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन के अन्तर्गत 'नया मोड़' नाम से एक अभियान चलाया। इस अभियान के द्वारा उन्होंने वियोगिनी महिलाओं को रूढ़ि रूप में पहनाए जानेवाले काले वस्त्रों तथा महीनों-महीनों तक कोने में बैठने के अभिशाप से मुक्ति दिलाने के लिए लोक-चेतना जगाने का प्रयास शुरू किया। हालांकि इस बात को लेकर एक बार समाज में काफी उथल-पुथल सी मची, फिर भी प्रयत्न चालू रहा। धीरे-धीरे वह समय भी आ गया, जब इस प्रकार की सभी कुरूढ़ियां नामशेष हो गईं और पति-वियोग से घुट-घुट कर जिन्दगी बसर करने वाली महिलाओं के लिए स्वाभिमान के साथ जीवन जीने का पथ प्रशस्त हो गया।

रूढ़ि उन्मूलन की इस शृंखला में छोटी-बड़ी अनेक कुरूढ़ियों की जड़ें हिल गईं। समाज सुधार की दृष्टि से मुख्य रूप से जिन-जिन परम्पराओं में बदलाव आया, यहां उनका उल्लेखमात्र किया जा रहा है—

1. बाल-विवाह
2. वृद्ध विवाह
3. अनमेल विवाह
4. विवाह के प्रसंग में दहेज की मांग व ठहराव
5. पर्दा प्रथा
6. मृत्यु के प्रसंग में रोने की प्रथा
7. वैधव्य के साथ सामाजिक त्रासदी
8. मृत्यु भोज
9. अस्पृश्यता
10. हरिजनों का धर्मस्थान में प्रवेश।

उपर्युक्त रूढ़ियों के बारे में समाज का दृष्टिकोण बदलने के लिए आचार्यश्री को अतिरिक्त समय और शक्ति का नियोजन करना पड़ा, पर वर्तमान में तेरापंथी-समाज के स्वरूप को देखकर गर्व के साथ कहा जा सकता है कि आचार्यश्री महान समाज-सुधारक थे।

4. महान प्रवचनकार

आचार्य तुलसी के जीवन की कहानी बड़ी दिलचस्प है। जैसे-जैसे उस कहानी की गहराई में उतरते हैं, नई-नई कहानियां आकार लेने लगती हैं। उनको पढ़ते समय आचार्यश्री के जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ता है और उसमें रस आने लगता है। उनके अनेक रूप थे और हर रूप जीवट का अमिट दस्तावेज था। यों भी कहा जा सकता है कि वे इतिहास के महासागर थे। उनके कर्तृत्व का हर पहलू अपने-आप में एक इतिहास को समेटे हुए था। वे एक सन्त, अनुशास्ता, आचार्य और गुरु होने के साथ-साथ महान प्रवचनकार भी थे।

प्रवचन करना आचार्यश्री की रुचि का विषय था। किशोरवय में ही उन्होंने प्रवचन का प्रशिक्षण लेना और अभ्यास करना शुरू कर दिया था। कुछ ही समय में वे प्रवचन-कला में निष्णात हो गए। पूज्य कालगुणी ने उनकी अभिरुचि और अर्हता का अंकन कर उन्हें व्याख्यान देने की जिम्मेदारी सौंप दी। वे दोपहर और रात्रि में व्याख्यान करने लगे। मुनि जीवन के ग्यारहवें वर्ष में ही वे आचार्य बन गए। तेरापंथ के आचार्य के लिए करणीय कार्यों में एक मुख्य कार्य होता है प्रवचन। आचार्य पद पर आसीन होते ही उन्होंने एक प्रभावी प्रवचनकार के रूप में अपनी पहचान बना ली।

आचार्यश्री प्रवचन करते समय केवल मुख से ही शब्दों का उच्चारण नहीं करते थे, उनका पूरा शरीर बोलता था। अपने कथ्य को वे अपनी मुखमुद्रा से अधिक सरलता के साथ समझा देते थे। उनकी वाणी में ओज था। उनके ओजपूर्ण शब्द इतनी तेजी से संप्रेषित होते थे कि श्रोता को अनुभव होता मानो कोई गली हुई धातु एक नमनीय आकृति में ढाल दी गई हो। आचार्यश्री के प्रवचन का एक नया ही अन्दाज था। उनके प्रवचन

में एक प्रवाह होता था, पर वह प्रवाह सीधा-सपाट नहीं रहता था। उदात्त, अनुदात्त आदि घोषों का विधिवत प्रयोग भले ही न हो, पर कहां ऊंचे स्वर में बोलना है, कहां मध्यम स्वर में बोलना है और कहां धीमे बोलना है, यह कला उन्हें नैसर्गिक रूप में प्राप्त थी।

आचार्यश्री का प्रवचन इतना सधा हुआ होता कि वह लाखों लोगों को मंत्रमुग्ध बना देता। दिल्ली में आयोजित 'विश्व हिन्दू सम्मेलन' में पांच लाख लोगों को आचार्यश्री ने खड़े होकर सम्बोधित किया। उस सभा के श्रोताओं ने अनुभव किया कि आचार्यश्री के वक्तव्य में भावों के अनुरूप शब्दों की अभिव्यक्ति और आंखों की भाव-भंगिमा अद्भुत थी। वे इधर-उधर देखने की स्थिति में ही नहीं रहे। उनकी प्रेरणादायी ओजस्वी वाणी ने जनता को बिना ही बन्धन के बांध लिया।

आचार्यश्री के प्रवचन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह आम और खास सब लोगों की समझ में उतर जाता था। शास्त्रों के गंभीर रहस्यों को वे अत्यधिक सरल भाषा में समझा देते और जीवन की साधारण घटनाओं को शास्त्रीय गंभीरता के साथ प्रस्तुत कर देते। उनके एक ही प्रवचन को सुनकर प्रबुद्ध लोग समझते कि वे उनके लिए बोल रहे हैं और साधारण स्त्री-पुरुषों को अनुभव होता कि आज का प्रवचन तो उनके लिए ही हुआ है।

आचार्यश्री के प्रवचनों से उन लोगों को अपनी समस्याओं का सहज समाधान मिल जाता, जो किसी विशेष समस्या के सन्दर्भ में आचार्यश्री का मार्गदर्शन पाने के लिए ही आते थे। अनेक लोगों के सामने उनके भावी जीवन के बारे में दिशा-निर्धारण की समस्या होती थी। उन्हें आचार्यश्री से सीधी बात करने में संकोच का अनुभव होता, पर प्रवचन सुनने से कई बार उन्हें सहज रूप में अपने जीवन की दिशा मिल जाती। उनके प्रवचन-सागर की गहराई में जितने गोते लगाए जाते, श्रोताओं को विचारों के उतने ही अमूल्य रत्न उपलब्ध हो जाते। कुल मिलाकर श्रोताओं को यह अनुभव होता कि आचार्यश्री के शब्दों, उनकी मुखमुद्रा, उनके नेत्र, उनके हाथ आदि सभी माध्यमों से विशिष्ट ऊर्जा का प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, जो सबके लिए बहुत आश्वस्तिकारक है।

5. महान संगीतज्ञ

संगीत एक कला है, साधना है, औषधि है, मनोरंजन है और प्रवचन का विशेष अंग है। संगीत-कला में निष्णात व्यक्ति जीवन को कलात्मक बना सकते हैं। संगीत के साधक स्वर-साधना में इतने तल्लीन हो जाते हैं, जिससे वे बिना ही प्रयत्न अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बना लेते हैं। संगीत से रोगों को दूर करने की पहचान भारत और चीन के प्राचीन ऋषि-मुनियों को थी, ऐसा माना जाता है। कुछ डॉक्टर एलोपैथिक, आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक आदि चिकित्सा-पद्धतियों के साथ वैकल्पिक चिकित्सा-पद्धति का उपयोग करते हैं। उनमें एक्यूपंकचर, एक्यूप्रेशर आदि विधियों के अतिरिक्त रंग-चिकित्सा और स्वर-चिकित्सा के भी सफल प्रयोग कर रहे हैं। कुछ लोग थकान दूर करने के लिए, तनाव मुक्त बनने के लिए अथवा मन को आह्लादित करने के लिए संगीत सुनते हैं। जो लोग प्रवचन करते हैं, वे अपने प्रवचन को सरस, आकर्षक एवं प्रभावी बनाने के लिए बीच-बीच में गीत या भजन गाते रहते हैं।

आचार्य तुलसी मनीषी प्रवचनकार सन्त थे। अपने प्रवचन में वे संगीत का भी खुलकर उपयोग करते थे। एक प्रवचनकार की हैसियत से उन्होंने लगभग छह दशकों की यात्रा की। इस यात्रा में लाखों-लाखों लोगों ने उनको सुना। उनके श्रोताओं में अनेक लोग मानते हैं कि वे संगीत के जादूगर थे। यद्यपि उन्होंने किसी संगीत महाविद्यालय अथवा संगीत प्रशिक्षक से विधिवत संगीत की शिक्षा प्राप्त नहीं की थी, फिर भी उनकी स्वर-साधना विलक्षण थी। स्वरों के आरोह एवं अवरोह की कला उन्हें नैसर्गिक रूप में प्राप्त थी। उनके गले की मिठास भी स्वाभाविक थी। उनकी ग्रहणशीलता भी विलक्षण थी। उन्होंने कुछ विशिष्ट प्राचीन धुनें अपने दीक्षा-गुरु पूज्य

कालूगणी से सुनीं और अपने कंठों में जमा लीं। कालूगणी कभी-कभी रागों के सही स्वरों की जानकारी के लिए गायक सन्तों का परीक्षण भी करते थे। एक बार ऐसे ही परीक्षण- प्रसंग में अच्छे-अच्छे गायक मुनि उत्तीर्ण नहीं हो पाए, पर मुनि तुलसी को शत-प्रतिशत अंक प्राप्त हुए।

आचार्य तुलसी गीत बनाते भी थे और गाते भी थे। उन्होंने सैकड़ों गीत लिखे। एक ओर उनके गीतों में श्रद्धा-भक्ति का रंग घुला हुआ था तो दूसरी ओर अध्यात्म, धर्म और परम्परा के गंभीर तथ्यों का समावेश था। आचार्य भिक्षु के प्रति लिखे गये श्रद्धाप्रधान और समर्पणप्रधान गीतों के कारण वे लाखों लोगों के मन में बस गए। आचार्यश्री तुलसी यदि आचार्य भिक्षु के प्रति श्रद्धा भक्ति को उजागर करने वाले इतने गीत नहीं लिखते और उन गीतों का बार-बार संगान नहीं करते तो संभवतः लोकमानस पर उनकी छवि इस रूप में नहीं उभर पाती। इसी प्रकार उन्होंने संघ के आचार्यों एवं साधु-साध्वियों के जीवन-वृत्तों में उनके बारे में जो गीत लिखे हैं, उन्हें पढ़ते और गाते समय पाठक व संगायक उसी भावधारा में बह जाते हैं। उनके द्वारा लिखे गए औपदेशिक गीत भी आध्यात्मिक, मार्मिक और प्रेरक हैं।

आचार्यश्री संगीत-कला में मर्मज्ञ होने के साथ-साथ गाने के रसिक भी थे। प्रवचन करते समय जब तक वे एक दो बार गीत का संगान नहीं कर लेते, उन्हें अपना प्रवचन अधूरा लगता था। गीतों की थिरकती हुई स्वर-तरंगों से प्रवचन में नया निखार आ जाता और श्रोता भी ताजगी का अनुभव करते थे। कदाचित वे संगान नहीं कर पाते तो श्रोताओं की ओर से गीत गाने का अनुरोध भी होता रहता था।

आचार्यश्री स्वयं स्वर-साधक थे, साधु-साध्वियां को भी स्वर-साधना की प्रेरणा देते रहते थे। प्रेरणा तो बहुत साधारण बात है, वे स्वयं पूरा समय लगाकर उन्हें संगीत का अभ्यास कराते थे। उनके पास संगीत का अभ्यास करनेवाले साधु-साध्वियाँ उस समय का स्मरण करके ही भावविभोर हो जाते हैं। ऐसे महापुरुष की स्मृति ही प्रणम्य है, जिन्होंने गीतों के संगान में अपनी हजारों-लाखों सांसों की आहुतियां दी हैं।

6. महान साहित्यकार

समाज के उत्कर्ष और अपकर्ष में साहित्य की बहुत बड़ी भूमिका रहती है। एक अध्यापक, प्रशासक, समाज-सुधारक, डॉक्टर, इंजीनियर, न्यायाधीश और वैज्ञानिक से भी अधिक महत्त्व होता है एक अनजाने और अचीन्हे साहित्यकार का। किसी भी देश के जनमत को जागृत करने में साहित्य जितना उपयोगी होता है, उतना कोई दूसरा माध्यम नहीं हो सकता। वक्तृत्व/वाग्मिता का प्रभाव होता है, पर उसका असर अल्पकाल तक ही रहता है। दीर्घकाल तक या पीढ़ी-दर-पीढ़ी असरकारक जो तत्व है, उनमें एक नाम साहित्य का है।

साहित्य-सृजन या रचनात्मक चेतना की पहली शर्त है संवेदनशीलता। व्यक्ति जितना संवेदनशील होता है, उतना ही गंभीर साहित्य लिख सकता है। संवेदनशीलता से भरी-पूरी रचना अपनी आभिजात्य प्रखरता और आत्मीय संस्पर्श से पाठक को अभिभूत कर लेती है।

आचार्य तुलसी एक सन्त भी थे और साहित्यकार भी थे। वे सृजन ऊर्जा के अकूत भंडार तो थे ही, अपने सृजन के परिवेश को सदा तराशते भी रहते थे। उनकी मेधा में कथ्य के नए उन्मेष और नए शिल्पन की कला पुरोगमन करती रहती थी। उनका अनुभव-शिल्प शब्दों की तरंगों पर मीनाकारी करने में सिद्धहस्त था। उनकी कल्पना के पारदर्शी वातायन पर जो भी भाव-बोध उतरता, वे उसकी सजीव छवि प्रस्तुत कर देते थे। आचार्यश्री का सृजन एक ऐसा सतत प्रवाही निर्झर था, जिसकी धाराएं अन्तश्चेतना का स्पर्श करती हुई आगे बढ़ती थीं। वे कलामर्मज्ञ और अन्तर्मुखी आस्था के उपासक थे। उनकी कला में एक ओर सौन्दर्य का बहाव है तो दूसरी ओर सत्य का ठहराव है। बहाव और ठहराव की युति के कारण ही उनकी

रचनाओं में कहीं भी आग्रह का पुट नहीं है। उनकी साहित्यिक कृतियों में भावबोध, युगबोध और कलाबोध के साथ आत्मबोध का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, इसीलिए उनके साहित्य को पराविद्या/आत्मविद्या का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है।

आचार्यश्री ने गद्य और पद्य इन दोनों विधाओं में विपुल मात्रा में साहित्य का सृजन किया। उनका पद्य-साहित्य संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी तीनों भाषाओं में है। गद्य साहित्य हिन्दी और संस्कृत में है। उन्होंने जिस किसी भाषा या विधा में लिखा, उससे उस भाषा और विधा का साहित्य समृद्ध हुआ।

हिन्दी गद्य साहित्य में उनकी सर्वोत्तम कृति है डायरी। सन् 1950 से सन् 1997 तक उन्होंने डायरी लिखी है। 10 नवम्बर 1950 को आचार्यश्री ने अपनी डायरी/दैनन्दिनी का पहला पृष्ठ लिखा। 16 जून 1997 के दिन लिखा गया पृष्ठ डायरी का अंतिम पृष्ठ है। हालांकि बीच-बीच में कभी-कभी डायरी को अवकाश भी मिला है, फिर भी जितने विशद रूप में जीवन-वृत्त लिखा गया है, वह अद्भुत है, अपूर्व है और साहित्य-भंडार का अनमोल खजाना है। आचार्य तुलसी का डायरी-साहित्य उनकी बहुखंडीय आत्मकथा का सर्वाधिक सशक्त एवं प्रामाणिक आधार बना है।

हिन्दी गद्य साहित्य में एक बहुत बड़ा भाग आचार्यश्री के प्रवचनों एवं लेखों के संकलन का है। दैनिक प्रवचनों के अतिरिक्त उन्होंने देश, काल एवं परिस्थितियों के सन्दर्भ में जो मौलिक और समसामयिक विचार दिए वे अपने युग के जीवन्त प्रतिबिम्ब उभारनेवाले हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उनका गद्य-साहित्य उनके विचार-दर्शन का प्रतिनिधि साहित्य है। इस साहित्य में आचार्य तुलसी के विचार इतने अधिक विषयों में प्रवाहित हुए हैं कि उनका संख्यांकन होना भी मुश्किल है।

आचार्य तुलसी ने संस्कृत भाषा में भी गद्य साहित्य लिखा है। इस साहित्य में विविध विषयों के निबन्ध-संकलन के अलावा तीन पुस्तकें ऐसी हैं, जो उनकी बहुश्रुतता की परिचायक हैं। वे तीन पुस्तकें हैं—जैनसिद्धान्तदीपिका, भिक्षुन्यायकर्णिका और मनोनुशासनम्। जैनसिद्धान्तदीपिका जैन-विद्या का

महनीय ग्रन्थ है। भिक्षुन्यायकर्णिका न्याय-दर्शन के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है और मनोनुशासनम् योग-विद्या का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य तुलसी का पद्य-साहित्य बहुआयामी है। संस्कृत पद्य-साहित्य बहुलांश में संधीय परिप्रेक्ष्य में साधु-साध्वियों को शिक्षण-प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से लिखा गया है। इसका कुछ हिस्सा स्तुतिपरक भी है। इस साहित्य के एक हिस्से में ऐसे श्लोकों का संकलन है, जो प्रसंगोपात् लिखे गए या आशुकविता के रूप में बोले गए।

हिन्दी पद्य-साहित्य में भी आचार्य तुलसी की अनेक रचनाएं हैं। एक ओर भरतमुक्ति जैसी काव्यमयी रचनाएं हैं तो दूसरी ओर चतुर्विध धर्मसंघ में साधना और संस्कारों को पोषण देने वाली आध्यात्मिक कृतियां हैं। अध्यात्म-पदावली जैसी रचनाएं तो प्रतिदिन स्मरण करने योग्य हैं। श्रावक-समाज के लिए आचार्य तुलसी ने श्रावक-संबोध नाम से एक ऐसा ग्रन्थ लिखा है, जो श्रावकाचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

आचार्य तुलसी का राजस्थानी पद्य-साहित्य राजस्थानी साहित्य का उत्कृष्ट नमूना है। कालूयशोविलास जैसी कालजयी कृतियों का सृजन तो शताब्दियों में कभी-कभार हो पाता है। शेष रचनाओं को तीन-चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जीवनवृत्त, आख्यान, औपदेशिक गीत और फुटकर पद्य। जीवनवृत्त हो या आख्यान, इन रचनाओं में इतनी जीवंतता है कि पाठक अथवा वाचक इनके साथ ही बहने लगते हैं। शब्दविन्यास, शिल्पकला और तदनु रूप धुनों का चयन एक प्रकार से जादुई सम्मोहन पैदा करनेवाला है।

आचार्यश्री की सृजनशीलता को शब्दों में बांधना सामर्थ्य से परे है। ऐसे यशस्वी साहित्यकारों को ही भारतीय वाङ्मय को सृजन के शिखर तक पहुंचाने का श्रेय दिया जा सकता है।

7. साहित्यकारों का निर्माण

आचार्य तुलसी के पास सृजन और ज्ञान की वह शलाका थी जिससे उन्होंने शब्दों को ही नहीं उकेरा, शब्दशिल्पियों का भी निर्माण किया। एक समय था जब आचार्यश्री के पास कोई हिन्दी का लेखक नहीं था। संस्कृत और राजस्थानी में लिखनेवाले भी कुछ सीमाओं में आबद्ध थे। आचार्यश्री ने उन सीमाओं को विस्तार दिया। हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखने के लिए प्रोत्साहन दिया। उन्होंने अपने साधु-साध्वियों को रचनाधर्मी होकर जीना सिखाया। उन्होंने कहा—‘हमारी रचनाओं में भावों की तराश और शब्दों की सुघड़ता अप्रतिम हो। केवल कल्पना की उड़ान हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारी सृजनात्मक चेतना के सामने एक निश्चित दर्शन हो। उस दर्शन के अनुसार हमें सत्य, शिव और सौन्दर्य का युगपत संगान करना है। जिस सौन्दर्य से सत्य का प्रकाशन न हो, वह शिवंकर नहीं हो सकता। हमारे तीर्थकरों के पास सत्य का प्रकाश स्वयंभू था। हमें वह विरासत में मिला है। उस प्रकाश से अपना पथ आलोकित करते हुए हम जनता को भी सत्य का दर्शन कराएं, यह अपेक्षा है।’

साहित्यकारों की एक लम्बी शृंखला का निर्माण करने के लिए आचार्यश्री ने नए-नए प्रयोग किए। उन्होंने सामूहिक प्रेरणा, प्रोत्साहन, प्रतियोगिताओं के समायोजन और पुरस्कार के साथ-साथ व्यक्तिशः एक-एक साधु और साध्वी का मानसिक धरातल तैयार किया। उनके द्वारा लिखे जानेवाले साहित्य को संशोधित और परिमार्जित करवाया और उस पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार-चर्चाएं आयोजित कीं। आचार्यश्री का पुरुषार्थ फला और साधु-साध्वियां साहित्य के क्षेत्र में उतरे ही नहीं, गतिशील भी हो गए।

साहित्य और साहित्यकारों के निर्माण की प्रेरणा तब जगी, जब किसी प्रबुद्ध विचारक ने आचार्यश्री से जैनदर्शन का विश्लेषण सुन, उस पर मनन करने के लिए किसी पुस्तक की मांग की। उस मांग को जैसे-तैसे पूरा किया गया, पर उसके बाद एक सिलसिला ऐसा चला, जिसमें जैनदर्शन, जैनयोग और अणुव्रत आदि के सम्बन्ध में सैकड़ों ग्रन्थ तैयार हो गए। आचार्यश्री के सान्निध्य में आगम-सम्पादन का जो महत्वपूर्ण कार्य चला, वह उनके युग का एक विशिष्ट अवदान है।

8. महान क्रान्तिकारी

आचार्य तुलसी जैन परम्परा में एक सम्प्रदायविशेष के आचार्य थे, फिर भी उन्होंने अणुव्रत के माध्यम से एक असाम्प्रदायिक धर्म की बात जनता के सामने प्रस्तुत की। उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय से ऊपर रखा। उन्होंने धर्म की तुलना फल और सम्प्रदाय की तुलना फल के छिलके से की। सम्प्रदाय और धर्म के लिए उन्होंने लिफाफे और पत्र का उदाहरण प्रस्तुत किया। फल का छिलका उसके भीतरी तत्व की सुरक्षा के लिए है। लिफाफा पत्र की सुरक्षा के लिए है। इसी प्रकार सम्प्रदाय धर्म को जन-जन तक पहुंचाने का माध्यम है, पर सम्प्रदाय धर्म नहीं है। धर्म का सिंहासन सम्प्रदाय से बहुत ऊंचा है।

धर्म के दो रूप हैं—कर्मकाण्ड और आचरण। सामान्यतः लोग धर्म को कर्मकाण्ड के साथ जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि से पूजा-पाठ धर्म है। धर्म की आराधना करने के लिए धर्मस्थान, मंदिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा आदि स्थानों में जाना जरूरी है। घर-परिवार की जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाने के बाद धर्म की साधना सुविधा से की जा सकती है, किन्तु इस संदर्भ में आचार्य तुलसी का मंतव्य भिन्न था। उनके अनुसार उपासना, धर्म का साधन हो सकती है, पर वह धर्म नहीं है। धर्म है आत्मा की पवित्रता का प्रयोग। धर्म को साधने के लिए मन्दिर, मस्जिद या धर्मस्थान में जाने की अनिवार्यता नहीं है। धर्म की आराधना दुकान, ऑफिस या अन्यत्र कहीं भी की जा सकती है।

इसी प्रकार धर्माराधना के लिए रिटायरमेंट की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है। जीवन की हर अवस्था में धर्म को साधा जा सकता है। वास्तव में धर्म है जीवन का रूपान्तरण। नकारात्मक भावों को सकारात्मक बनाने की

प्रक्रिया धर्म है। क्रोध, लोभ, अहंकार आदि मानवीय दुर्बलताओं पर विजय पाने का प्रयास धर्म है। अन्धकार से प्रकाश की यात्रा का नाम धर्म है। यह प्रकाश जहां भी मिल जाए, व्यक्ति में रूपान्तरण घटित हो जाता है। धर्म का अर्थ है जीवन की पवित्रता। धार्मिक बनने के लिए न तो संन्यास लेने की जरूरत है, न क्रियाकाण्डों में समय लगाने की जरूरत है। व्यक्ति जो कुछ है, ईमानदारी के साथ वही दिखने का प्रयत्न करे। वह जो कुछ कर रहा है, उसे पूरी प्रामाणिकता से करे। वह किसी को धोखा न दे। किसी को सताए नहीं। बस यही धर्म है।

धर्मक्रान्ति के पांच प्रभावी सूत्र

आचार्य तुलसी एक धर्माचार्य थे, पर धर्म की बंधी-बंधाई परम्पराओं में उनका विश्वास नहीं था। उन्होंने एक शाश्वत तत्त्व के रूप में धर्म का निरूपण किया। पारम्परिक मूल्य- मानकों को तोड़ने का आग्रह उनमें नहीं था, पर वे धर्म को अन्धविश्वासों और रूढ़ परम्पराओं के दायरे से बाहर रखने के पक्षधर थे। धर्म के बारे में जनता की रूढ़ अवधारणा को बदलकर अथवा धर्म की निर्धूम ज्योति पर पड़ी हुई राख को हटाकर वे उसका दीप्तिमान स्वरूप उजागर करना चाहते थे। इस संदर्भ में उन्होंने धर्मक्रान्ति का स्वर मुखर किया। धर्मक्रान्ति की बात जनता की समझ में आए, विशेष रूप से देश का प्रबुद्ध वर्ग उसका महत्त्व समझे, इस दृष्टि से उन्होंने धर्मक्रान्ति के पांच सूत्र दिए—

1. बौद्धिकता,
2. प्रायोगिकता,
3. समाधायकता,
4. वर्तमान-प्रधानता,
5. सर्वधर्म-सद्भावना।

1. **बौद्धिकता**—धर्म को श्रद्धागम्य माना जाता है। यह भी एक धारणा है कि श्रद्धागम्य तत्त्व को तर्क की कसौटी पर नहीं कसना चाहिए। सम्भवतः इसी कारण प्रबुद्ध वर्ग ने समझ लिया कि धर्म की उसके लिए कोई उपयोगिता

नहीं है। आचार्य तुलसी ने इस अवधारणा को समूल उखाड़ते हुए कहा कि जो धर्म बुद्धिगम्य नहीं हो सकता, वह व्यावहारिक भी नहीं बनता। धर्म की वैज्ञानिकता को बौद्धिक व्यक्ति ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसलिए धर्म के क्षेत्र में बौद्धिकता का प्रवेश आवश्यक है।

2. प्रायोगिकता—सिद्धान्त और प्रयोग दो ऐसे ध्रुव हैं, जो एक दूसरे के पूरक हैं। विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग के अभाव में केवल सिद्धान्त को जानने मात्र से कोई आविष्कार नहीं हो सकता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी केवल सिद्धान्त के आधार पर जीवन रूपान्तरित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से आचार्य तुलसी ने कहा कि धर्म के सिद्धान्तों का जीवन-व्यवहार में प्रयोग न हो तो वे अकिंचित्कर हो जाते हैं। इसी भावना से उन्होंने प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों को अणुव्रत दर्शन के पूरक के रूप में स्वीकार किया।

3. समाधायकता—आचार्य तुलसी का चिन्तन था कि धर्म में जीवन की समस्याओं को समाधान देने की क्षमता होनी चाहिए। भोजन करने से भूख शान्त न हो तो उस भोजन से कोई लाभ नहीं होता। इसी प्रकार जो धर्म समस्या संकुल जीवन को स्वस्थ नहीं बना सकता, उस धर्म से जनता का क्या भला हो सकता है।

4. वर्तमान प्रधानता—कुछ लोग मानते हैं कि धर्म का फल परलोक में मिलेगा। आचार्य तुलसी का अभिमत था कि जिसका इस लोक में कोई फल नहीं मिलता, उसका परलोक में फल कैसे मिलेगा? भविष्य कभी वर्तमान की उपेक्षा नहीं करता। वर्तमान को उज्वल बनाकर ही भविष्य को उज्वल बनाया जा सकता है। परलोक को सुधारने के लिए धर्माचरण की बात एक प्रकार का प्रलोभन है। स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय से मुक्त रहकर वर्तमान जीवन को स्वस्थ एवं आनन्दमय बनाने के लिए ही व्यक्ति को धर्म का आचरण करना चाहिए।

5. सर्वधर्म सद्भावना—आचार्य तुलसी मानते थे कि सम्प्रदाय व्यवस्था है और धर्म जीवन का तत्त्व है। सम्प्रदायों का काम है जनता को धर्म के बारे में सही जानकारी देना और धार्मिक प्रयोगों के माध्यम से

उसके जीवन-स्तर को उन्नत बनाना। सब सम्प्रदायों के बीच सद्भावनापूर्ण वातावरण निर्मित करने के लिए आचार्य तुलसी ने पंडित नेहरू के पंचशील की तरह साम्प्रदायिक सद्भाव के पांच सूत्र दिए, जो इस प्रकार हैं—

1. मंडनात्मक नीति—अपनी मान्यता का प्रतिपादन हो, दूसरों पर लिखित या मौखिक आक्षेप न हो।
2. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रहे।
3. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना न फैलाएं।
4. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न हो।
5. धर्म के मौलिक तत्वों को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

9. अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक

भारत के महापुरुषों में महर्षि अरविन्द और महात्मा गांधी के नाम भी जुड़े हुए हैं। अरविन्द और गांधी में क्या अन्तर था? इस जिज्ञासा के समाधान में देश के प्रमुख साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार मननीय हैं। उन्होंने कहा—अरविन्द ज्ञानी थे, अनुभवी थे और मंजे हुए थे, पर दुनिया से अलग थे। गांधी अरविन्द से किसी तरह कम नहीं थे। उनकी जीवनशैली विलक्षण थी, पर वे समाज से आंख मूंदकर नहीं चलते थे। समाज की समस्याओं को वे गंभीरता से देखते थे और उनका समाधान खोजते थे। इसी बात से मैं गांधी को अधिक महत्त्व देता हूँ।

आचार्य तुलसी भारतीय सन्त परम्परा के एक प्रमुख सन्त थे। नितान्त आध्यात्मिक होने पर भी वे समाज और राष्ट्र की समस्याओं से अपरिचित नहीं थे। उनका चिन्तन यह था कि वे जिस समाज और राष्ट्र में रहते हैं, उससे निरपेक्ष रहकर अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकते। उनकी धारणा के अनुसार संन्यास का अर्थ समाज से पलायन नहीं था। इसी आधार पर वे समय-समय पर सामाजिक एवं राष्ट्रीय चरित्र को समुन्नत करने के लिए चिन्तन करते रहते थे।

भारतीय जनता शताब्दियों से विदेशी शासकों के अधीन रह रही थी। उसके मन में स्वतंत्रता की प्यास थी, तड़प थी। भारत की अस्मिता को बचाने के लिए उसने संघर्ष का रास्ता लिया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में संघर्ष को अहिंसात्मक मोड़ दिया गया। यह प्रयोग हुआ और भारत बिना किसी रक्तपात के 15 अगस्त 1947 को ब्रिटिश सत्ता की अधीनता से मुक्त हुआ। हालांकि स्वतंत्रता की इमारत भारत के विभाजन की बुनियाद पर खड़ी हुई थी, फिर भी उसके दुष्परिणामों पर ध्यान न देकर जनता खुशी में

झूम उठी। उस समय आचार्य तुलसी ने कहा—‘असली आजादी अपनाओ।’ उनके इस कथन का तात्पर्य यह था—संवैधानिक रूप में भारत स्वतंत्र हो गया। प्रशासनिक दृष्टि से विदेशियों ने सत्ता का सिंहासन खाली कर दिया। किन्तु भारतीय जनता की मानसिक दासता ज्यों-की-त्यों बरकरार है। उसके संस्कारों पर विदेशी संस्कृति का प्रभाव है। उसकी मानसिक कुंठाएं स्वतंत्रता की सही समझ में बाधक बन रही हैं। जब तक जनता अपनी वृत्तियों की दासता से मुक्त नहीं होगी, स्वतंत्रता का पूरा आनन्द नहीं ले पाएगी।

आचार्यश्री ने भारतीय लोगों की जीवनशैली का अध्ययन किया, उनकी सामाजिक, धार्मिक एवं चारित्रिक आस्थाओं पर ध्यान दिया तो उनके सामने एक चित्र उभरकर आया। उन्होंने देखा—भारत के नागरिक अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। वे सुबह-शाम मन्दिरों में जाते हैं, पूजा करते हैं और अपनी मनोकामना पूर्ण करने की प्रार्थना करते हैं। कीर्तन एवं सत्संग का सिलसिला कभी टूटता ही नहीं है। साधु-संन्यासियों के आवास स्थलों में भी लोगों की भीड़ लगी रहती है। वृक्षों एवं पाषाणों को भी देवों का प्रतीक मानकर पूजा की जाती है। जिस वृक्ष या पाषाण पर सिन्दूर लगा हुआ दिखाई देता है, वहां जाकर लोग मनौतियां मांगते हैं। मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ने का क्रम चलता है। गुरुद्वारों में मत्था टेकने की होड़-सी लगी रहती है। चर्च के कक्ष प्रार्थना के समय दर्शनीय बन जाते हैं। उपासना का साम्राज्य चारों ओर विस्तार पा रहा है, किन्तु साधना का पक्ष गौण है। पूजा-पाठ नियमित चलता है, पर आचरण की पवित्रता की ओर ध्यान ही नहीं जाता है। आदमी दिनभर पाप करता है और सन्ध्या के समय मन्दिर में जाकर आरती उतार लेता है। ऐसा करके वह स्वयं को पापमुक्त समझ लेता है।

दूसरी ओर आचार्यश्री ने देश की राजनैतिक परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया। उन्हें अनुभव हुआ कि भारत आजाद हो गया, पर अंग्रेजियत का प्रभाव क्षीण नहीं हुआ है। देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को भुलाया जा रहा है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय देशप्रेम की जो

भावना उभरी थी, वह पुनः दबने लग गई है। सामाजिक चेतना भी जागृत नहीं है। देश के कर्णधार उद्योग-धंधों, कारखानों, सड़कों, बांधों, विद्युत-परियोजनाओं आदि पर ध्यान दे रहे हैं, किन्तु राष्ट्रीय अनुशासन, राष्ट्रीय चरित्र या नैतिक मूल्यों के विकास की दृष्टि से न कोई चिन्तन है और न कोई योजना है।

एक नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र की धार्मिक, प्रशासनिक और सामाजिक स्थितियों का आकलन करते समय आचार्य तुलसी का ध्यान उन बिन्दुओं पर गया, जो देश को भीतर से कमजोर बना रहे थे, चारित्रिक पतन की ओर ले जा रहे थे, नैतिक स्तर को गिरा रहे थे और जाति, वर्ण सम्प्रदाय आदि के आधार पर मानव-मानव के बीच दीवार खड़ी कर रहे थे। लोकतंत्र और राष्ट्रीय चरित्र की रीढ़ को कमजोर करनेवाले तत्त्वों के विरोध में जनमत को जागृत करने तथा लोक जीवन को सुदृढ़ सुरक्षाकवच प्रदान करने के लिए उन्होंने एक नैतिक अभियान चलाने का लक्ष्य बनाया। लक्ष्य के अनुरूप चिन्तन-मन्थन करके उन्होंने एक नियमावली तैयार की और उसे अणुव्रत के नाम से जनता के सामने प्रस्तुत करने का निर्णय लिया।

1 मार्च 1949 का पुण्य प्रभात। सूर्योदय के तत्काल बाद आचार्यश्री ने अनौपचारिक रूप में अणुव्रत आन्दोलन को लांच कर दिया। उसी दिन प्रवचन के समय हजारों लोगों की उपस्थिति में जनता के दिलों को झकझोरने वाले उनके विचारों को एक नई शैली में प्रस्तुति दी जा रही है—

‘उजाले में अंधेरों की तलाश करनेवाले लोग भी इस दुनिया में हैं। राष्ट्र की स्वतंत्रता प्रकाश है, पर नैतिक मूल्यों का पतन अंधेरी खंदक है। मनुष्य आंख मूंदकर इस खंदक में छलांग लगा रहा है। क्या यह उजाले में अंधेरे की तलाश नहीं है। नैतिकता की गिरावट के साथ-साथ भारतीय लोगों में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थाहीनता की जो लहर आई है, वह अधिक घातक है। आदमी के मन में जिस दिन यह विचार जन्म लेता है कि नैतिकता के आधार पर जीना संभव नहीं है, उसी दिन से वह अपनी प्राणशक्ति को खोना शुरू कर देता है। नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा से पहले उनके प्रति आस्था के निर्माण की जरूरत है। जो लोग नीतिमत्ता या चरित्र

का महत्त्व समझते हैं, उन्हें सर्वप्रथम अपने भीतर इस विश्वास को जगाना होगा कि नैतिकता के आधार पर भी जीवन जीया जा सकता है।'

नैतिकता के संदर्भ में अणुव्रत की कल्पना को रूपायित करते हुए आचार्यश्री ने कहा—'मानव जीवन की न्यूनतम आचार-संहिता का नाम है—अणुव्रत। शाब्दिक मीमांसा के अनुसार अणु का अर्थ है छोटा और व्रत का अर्थ है नियम। कथ्य की दृष्टि से इसका तात्पर्य है संकल्प शक्ति का विकास। **अणुरपि व्रतस्यैषस्त्रायते महतो भयात्**—व्रत का अणु यानी छोटा-सा व्रत भी व्यक्ति को महान भय से उबार लेता है। जीवन में नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित कर अणुव्रत इन्सान को सही अर्थ में इन्सान बनाना चाहता है। इसी उद्देश्य को व्यापक परिवेश से जोड़ने पर अणुव्रत का लक्ष्य बनता है—शोषणविहीन स्वस्थ समाज की संरचना। विचार-परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन के लिए यह एक प्रशस्त उपक्रम है। इसके लिए मुझे ऐसे कार्यकर्ताओं की जरूरत है, जो स्वयं अणुव्रती बनकर जन-जन में व्रत की चेतना का संचार कर सकें। इस योजना की क्रियान्विति के लिए प्रथम बार में मुझे पच्चीस व्यक्ति उपलब्ध हो जाएं तो मैं अपनी योजना को विस्तार दे सकता हूँ।'

आचार्यश्री के क्रान्तिकारी आह्वान ने अनेक लोगों को भीतर तक छू लिया। उनमें नई आस्था और नए संकल्प ने अँगड़ाई ली पर मन में थोड़ी-सी झिझक थी। आचार्यश्री ने कलम हाथ में लेकर कहा—'आज जो लोग अणुव्रती बनेंगे, उनके नाम मैं लिखूंगा।' जो लोग इस दिशा में प्रस्थान करने की बात सोच रहे थे, उन्हें प्रोत्साहन मिला। दो-चार व्यक्तियों ने पहल की। उसके बाद तो खड़े होनेवालों की संख्या बढ़ती गई। देखते ही देखते पच्चीस के स्थान पर इकहत्तर-बहत्तर व्यक्तियों के नाम आ गए। आचार्यश्री ने उनके नाम नोट किए और उस क्रम को एक बार रोक दिया। प्रथम पारी में अणुव्रती बननेवालों में कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो अणुव्रत के यज्ञ में विशेष आहुति देने के लिए उत्सुक थे, अणुव्रत के प्रचार-प्रसार में अपना समय लगाने के लिए कटिबद्ध थे। इस प्रक्रिया से आचार्यश्री की कल्पना ने ऊंची उड़ान भरी और उन्होंने अपने कार्यक्रमों में अणुव्रत को शीर्ष स्थान पर

अंकित कर लिया। उसके बाद उन्होंने अणुव्रत को एक मिशन बनाकर देश के विभिन्न प्रान्तों में लम्बी-लम्बी पद- यात्राएं कीं।

प्रारम्भ में अणुव्रत के नियमों की संख्या चौरासी रखी गई। समय-समय पर उसमें परिवर्तन और परिष्कार होता रहा। निष्कर्ष रूप में ग्यारह नियमों का निर्धारण किया गया। शिक्षक, विद्यार्थी, व्यापारी, राज्यकर्मचारी आदि वर्गों के लिए उन ग्यारह नियमों के साथ अलग-अलग कुछ वर्गीय अणुव्रत नत्थी कर दिए गए। कुल मिलाकर कतिपय मानवीय मूल्यों के आधार पर इन्सान को सही अर्थ में इन्सान बनाने के लिए एक न्यूनतम आचार-संहिता तैयार कर दी गई, जो इस प्रकार है-

अणुव्रत-आचार-संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
 - आत्म-हत्या नहीं करूंगा।
 - भ्रूण हत्या नहीं करूंगा
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
 - आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
 - विश्वशांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।
 - जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को उच्च-निम्न नहीं मानूंगा।
 - अस्पृश्य नहीं मानूंगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
 - साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
 - अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
 - छलपूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।

7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
9. मैं सामाजिक कुरूपियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
10. मैं व्यसनमुक्त जीवन जीऊंगा।
 - मादक तथा नशीले पदार्थों—शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि तथा मांस, अण्डा, मछली आदि मांसाहार का सेवन नहीं करूंगा।
11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।
 - हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा।
 - पानी, बिजली आदि का अपव्यय नहीं करूंगा।

(अणुव्रती के लिए संबंधित वर्गीय अणुव्रतों का पालन अनिवार्य है)

अणुव्रत का प्रथम अधिवेशन सन् 1950 में दिल्ली में आयोजित हुआ। आचार्यश्री की वह पहली दिल्ली यात्रा थी। तब तक कार्यक्षेत्र और जन-सम्पर्क दोनों ही सीमित थे। अधिवेशन की आयोजना से पहले अणुव्रती कार्यकर्ताओं के मन उसकी सफलता को लेकर सशंक थे। उनका विचार था कि अधिवेशन किसी सार्वजनिक स्थान में न हो तो अच्छा रहे। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन भी किया, किन्तु वे अणुव्रत को व्यापक रूप में प्रस्तुत करना चाहते थे। इसलिए अधिवेशन चांदनी चौक में रखा गया। लगभग छह हजार की उपस्थिति में अधिवेशन हुआ और पांच सौ व्यक्तियों ने अणुव्रत के संकल्प स्वीकार किए। संकल्पों की गूंज से पूरा वातावरण तो मुखरित हुआ ही, उसकी प्रतिक्रिया वहां साक्षी बनकर खड़े पत्रकारों के माध्यम से विदेश तक पहुंच गई। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' 15 मई 1950 ने जो टिप्पणी प्रकाशित की, उससे आचार्यश्री और अणुव्रत को अन्तरराष्ट्रीय ख्याति उपलब्ध हुई। उसके बाद तो अणुव्रत के कार्य और प्रचार-प्रसार का उत्तरोत्तर विस्तार होता रहा।

अणुव्रत चरित्र-निर्माण का आन्दोलन है, हृदय परिवर्तन का आन्दोलन है, असाम्प्रदायिक धर्म है और मानव धर्म का प्रतीक है। इसी

कारण इसे व्यापक जनसमर्थन मिला, बौद्धिक वर्ग का समर्थन मिला, शिक्षा-जगत में कार्यक्रमों का आधार बना, विद्यालयों में अणुव्रत गीत के स्वर गूँजे, राजस्थान विधानसभा में इसके पक्ष में प्रस्ताव पारित हुआ और देश के प्रथम राष्ट्रपति एवं प्रथम प्रधानमंत्री ने इसमें अभिरुचि ली। कश्मीर से कन्याकुमारी तक अणुव्रत का सन्देश पहुंचा। देश की सरहदों को पारकर विदेशों में चर्चा का विषय बना। अणुव्रत का दर्शन समझकर अपने-आपको नास्तिक माननेवाले और साम्यवादी विचारधारा में विश्वास करनेवाले व्यक्तियों के विचारों में अद्भुत परिवर्तन हुआ। इन सब बातों से भी अगली बात यह है कि अणुव्रत से आचार्य तुलसी को भी एक नई पहचान मिली। राजनीति हो, शिक्षा-संस्थान हो, व्यावसायिक प्रतिष्ठान हो अथवा कोई सार्वजनिक संस्थान हो, वहां आचार्यश्री के मिशन को लेकर जानेवाले कार्यकर्ताओं के सामने प्रायः एक प्रश्न आता है कि कौन-से आचार्य तुलसी? क्या अणुव्रतवाले? इस दृष्टि से यह स्वीकार किया जा सकता है कि अणुव्रत की पहचान आचार्यश्री से हो रही है और आचार्यश्री की पहचान में अणुव्रत की अहम भूमिका रही है।

अणुव्रत का कार्य प्रारम्भ करने के बाद आचार्यश्री के परिचय की शब्दावली भी बदल गई। नए-नए क्षेत्रों की यात्राओं में उन्हें कोई पूछता कि आप कौन हैं? तो उनका उत्तर इस प्रकार होता—‘सबसे पहले मैं मानव हूँ, फिर धार्मिक हूँ, फिर जैन हूँ, फिर तेरापंथी हूँ या तेरापंथ का आचार्य हूँ।’ ऐसे और भी अनेक तथ्य हैं जिनके आधार पर आचार्य तुलसी मानवता के मसीहा बन गए।

10. अमर घोषों का उद्घोषक

युगपुरुष वह होता है, जो युगीन समस्याओं को देखता है, समझता है, उनका समाधान खोजता है और लोकजीवन को नई दिशा देता है। समाज को दिशा देने के अनेक माध्यम हो सकते हैं। हर युगपुरुष अपने समय और परिस्थिति के अनुरूप उन माध्यमों का उपयोग करता है। आचार्य तुलसी ने युगीन समस्याओं को समाहित करने की दृष्टि से अनेक माध्यम काम में लिए थे। उनमें एक माध्यम था—समस्या को समाहित करने वाले घोषों का उद्घोष। उनके द्वारा उद्घोषित कुछ घोष यहां प्रस्तुत हैं—

संयमः खलु जीवनम्

आचार्यश्री ने सन् 1949 में अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया और सन् 1950 में अणुव्रत के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर एक घोष दिया—संयमः खलु जीवनम्। इसका हिन्दी रूपान्तरण है—संयम ही जीवन है।

समस्या चाहे हिंसा की हो, परिग्रह की हो या प्राकृतिक संसाधनों के असीम दोहन की हो। उसके मूल में काम करने वाला तत्व है असंयम। मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है, किन्तु आकांक्षाओं को कभी पूरा नहीं किया जा सकता, क्योंकि आकाश की तरह उनका कोई ओर-छोर नहीं होता। मन का असंयम दुःख को बढ़ाता है, वाणी का असंयम महाभारत करवा देता है और शरीर का असंयम पाप के स्रोत खोल देता है। मनुष्य में संयम की चेतना जगाने के लिए आचार्यश्री ने दो गीत लिखे, जिनकी प्रारंभिक पंक्तियां इस प्रकार हैं—

- * प्रेम से बोले कि प्यारे संयमः खलु जीवनम्।
नियम से बोले कि सारे संयमः खलु जीवनम्॥
- * नैतिकता की सुरसरिता में जन-जन मन पावन हो।
संयममय जीवन हो॥

भ्रष्टाचार, शोषण और हिंसा के जितने स्रोत हैं, उनका उत्स असंयम है। **संयमः खलु जीवनम्**—इस घोष की तरंगें मानव-जाति में संयम की चेतना जगाती रहे, यही इसकी सार्थकता है।

अमर रहेगा धर्म हमारा

धर्म की यात्रा आलोक की यात्रा है। धार्मिक होने का अर्थ है भीतर से आलोकित होना। जहां आलोक होता है, वहां आनन्द का स्रोत अपने-आप बहता है। अन्धकार और दुःख के साथ धर्म का कोई वास्ता नहीं है। धर्म ऐसा तत्त्व है, जो अपने आश्रितों को त्राण देता है, पर कभी-कभी त्राण देनेवाले को भी अत्राण बना दिया जाता है। धर्म के साथ कुछ ऐसा ही घटित हुआ। मुसलमानों के सामने कोई संकट उपस्थित हुआ तो वे कहने लगे—‘इस्लाम धर्म खतरे में है।’ इस नारे ने सब मुसलमानों को चौकन्ना कर दिया। हिन्दुओं ने कहा—‘हिन्दू धर्म खतरे में है।’ इस घोषणा ने हिन्दुओं को सतर्क कर दिया। इस प्रकार अनेक धर्मों के अधिकारी अपने-अपने अनुयायियों को उकसा कर साम्प्रदायिक उन्माद बढ़ाने लगे।

उस समय कुछ जैन युवकों ने ‘तरुण संघ’ नाम से एक संगठन बनाया। उनके भाषण और लेखन में एक नारा मुखर हुआ—धर्म खतरे में है। धर्म शब्द से उनका आशय पंथ/सम्प्रदाय से था। विशेष रूप से उनका इरादा तेरापंथ का विरोध करने से था। उन्होंने सोचा होगा कि तेरापंथ को खतरे में समझकर कुछ साधु संघ छोड़कर उनके संगठन के साथ जुड़ जाएंगे। किन्तु आचार्य तुलसी धर्म को पन्थ और ग्रन्थ की कैद से मुक्त कर उन्मुक्त आकाश दे चुके थे। वे मानते थे कि धर्म एक शाश्वत और सार्वभौम तत्त्व है। उसे कभी खतरा नहीं हो सकता। उन्होंने धर्म की अमरता का उद्घोष करते हुए एक पूरा गीत लिख दिया। गीत की प्रथम पंक्ति है—**अमर रहेगा**

धर्म हमारा। जन-जन के मुंह पर उस गीत की गूंज सुनकर धर्म को खतरे में कहनेवाले लोगों को ऐसा लगा मानो उनके कानों में शीशा उड़ेली जा रही है। पर जो लोग धर्म के प्रति आस्थावान थे, उन्हें बहुत बल मिला।

धर्म की ज्योति को आच्छादित करने के लिए जो राख एकत्रित की गई थी वह इस घोष की आंधी से बिखर गई। यह घटना सन् 1948 छापरी की है। धर्म के लिए खतरा उपस्थित करनेवाले उस वातावरण में यह घोष इतना प्रभावी बना कि धर्म की त्रैकालिक सत्ता के आगे लगाया गया प्रश्नचिह्न ही समाप्त हो गया।

जो हमारा हो विरोध : हम उसे समझें विनोद

जो व्यक्ति लीक छोड़कर चलता है, समाज उसे सहज रूप में सहन नहीं कर सकता। आचार्य तुलसी ने साधु-जीवन के आचार की मौलिकता को अक्षुण्ण रखकर समाज-सुधार की दृष्टि से काम करने का चिंतन किया। यद्यपि उस काम का सीधा सम्बन्ध धर्म या नीति से ही था, फिर भी कुछ परम्परावादी लोग उसके विरोध में खड़े हो गए। विरोध आखिर विरोध ही होता है। काम करनेवाले का संकल्प शिथिल हो तो वह विरोध की संभावना मात्र से पीछे हट जाता है। समाज के लिए खपना और विरोध झेलना, इस दोहरी धार पर चलने का साहस कोई महापुरुष ही कर सकता है।

आचार्य तुलसी के जीवन में संघर्षों और विरोधों का अपना इतिहास है। ऐसा कोई वर्ष मुश्किल से बीता होगा, जब उनके विरोध में यत्र-तत्र कुछ नहीं हुआ हो। कभी धर्मसंघ की अन्तरंग परिषद में विरोध के स्वर मुखर हुए, कभी श्रावक-समाज में हलचल हुई, कभी जैन-समाज द्वारा विरोध किया गया तो कभी सनातनी लोगों द्वारा आन्दोलन चलाया गया। कभी कुछ प्रगतिशील कहे जानेवाले युवाओं ने विरोध का झंडा उठाया तो कभी कट्टर परम्परावादी लोगों द्वारा उसे बल मिला। कुल मिलाकर आचार्यश्री की तेजस्विता और यशस्विता को आच्छादित करने के लिए विरोध की बदलियां मंडराती रहीं, पर यह एक यथार्थ है कि बादलों की छाया कभी स्थायी नहीं रहती। विरोध के बादल जब छंट जाते तो आचार्यश्री का तेज और अधिक दीप्तिमान होकर चमकता।

विरोध के कारण आचार्यश्री कभी रुके नहीं। उनकी संकल्पशक्ति इतनी प्रखर थी कि भयंकर विरोधों में भी वे कभी विचलित नहीं हुए। उन्होंने अनेक बार कहा—‘जब तक संभव होता है, मैं विरोधों और संघर्षों से बचना चाहता हूँ। किन्तु जब वे सामने आ ही जाते हैं, तब मुझे अज्ञात शक्ति मिलती है और मैं उन्हें पूरी ताकत से प्रतिहत करने का प्रयत्न करता हूँ।’

सन् 1949 में आचार्यश्री का चातुर्मास जयपुर था। वहां दीक्षा के विरोध में वातावरण इतना सशक्त था कि बहुत लोग घबरा गए। उन कठिन क्षणों में आचार्यश्री ने एक घोष दिया—**जो हमारा हो विरोध : हम उसे समझें विनोद।** इस घोष से संबंधित एक गीत की रचना कर उन्होंने उसका संगान किया तो गीदड़-मनों में सोया हुआ सिंह जाग उठा। कमजोर और भीरु कहलानेवाली समाज की महिलाओं ने दीक्षा के पक्ष में नारे लगाते हुए जयपुर में जो जुलूस निकाला, लोग देखते रह गए। आखिर बिना किसी व्यवधान के शान्त वातावरण में दीक्षा-समारोह का आयोजन सम्पन्न हुआ। उसके बाद तो यह घोष निरन्तर एक सफल पथदर्शक का काम कर रहा है।

विवेगे धम्ममाहिए

धर्म जीवन का तत्त्व है। यह आत्मशुद्धि या पवित्रता का एकमात्र साधन है। किन्तु इसे भी जब क्रियाकाण्डों के साथ जोड़ दिया जाता है और उन्हीं को प्रधानता मिलने लगती है तो धर्म का तेज धुंधला होने लगता है। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि धर्म में उपासना नाम का तत्त्व होना ही नहीं चाहिए। उपासना का भी एक सीमा तक मूल्य है, पर उसके साथ आचरण शुद्धि का पक्ष प्रबल रहे, यह आवश्यक है।

धर्म का उपासना-पक्ष केवल रूढ़ि बनकर न रह जाए, इस उद्देश्य से आचार्यश्री ने उपासना को प्रायोगिक बनाने का निर्देश दिया। निर्देश की क्रियान्विति हेतु उपासक शिविरों की आयोजना कारगर सिद्ध हुई। सन् 1963 में आचार्यश्री का चातुर्मास लाडनू था। वहां एक उपासक-शिविर आयोजित हुआ। शिविर में साधना करनेवाले भाई-बहनों को प्रशिक्षण देते हुए एक दिन आचार्यश्री ने बोध पाठ दिया—**विवेगे धम्ममाहिए—विवेक**

ही धर्म है। विवेक जागृत हो तो व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में धर्म की आराधना कर सकता है। समाज का प्रबुद्ध वर्ग रूढ़ धर्म की धारणाओं को पहले ही नकार चुका था। उसके सामने जब प्रस्तुत घोष आया तो उसने अपने भीतर एक नई ऊर्जा का अनुभव किया।

पहले इन्सान इन्सान : फिर हिन्दू या मुसलमान

जिस देश के मनीषी सन्तों ने **एकैव मानुषी जाति**—यह सूत्र देकर विश्व के सब मनुष्यों को एकता के धागे में बांधने का प्रयत्न किया, उसी देश में मनुष्य-मनुष्य के बीच एक अभेद्य दीवार-सी खड़ी होती गई। कारण कुछ भी रहा हो, जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद आदि के नाम पर चले लम्बे संघर्ष के बाद भारत का विभाजन हो गया। इस विभाजन की पृष्ठभूमि में अहम भूमिका किसी की भी रही हो, उसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ और आदमी आदमी का जानी दुश्मन बन गया। भाई-भाई की तरह रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे को नेस्तनाबूत करने के लिए कटिबद्ध हो गए। उसके बाद भी कभी हिन्दू-मुसलमान के नाम से, कभी हिन्दू-सिख के नाम से तथा कभी किसी दूसरे नाम से दंगे होते रहे हैं और अखण्ड भारत को खण्डों में बांटने की साजिश रची जाती रही है।

आचार्य तुलसी का स्पष्ट मंतव्य है कि हिन्दू कोई धर्म नहीं है। वह एक समाज है, संस्कृति है। हिन्दुस्तान में रहनेवाले सभी हिन्दू हैं, फिर चाहे वे सिख हों, ईसाई हों, मुसलमान हों, जैन हों या सनातनी हों। यह हिन्दू शब्द की विराट परिभाषा है। इसे समझने का प्रयास किया जाता तो संभवतः विवाद इतना नहीं बढ़ता। भारत की माटी में रचे-बसे लोगों को भावात्मक एकता का बोध पाठ देने के लिए उन्होंने एक घोष दिया—**पहले इन्सान इन्सान : फिर हिन्दू या मुसलमान।**

प्रस्तुत घोष में हिन्दू और मुसलमान शब्द प्रतीकात्मक है। इसकी भावना यह है कि मनुष्य किसी भी जाति, धर्म या प्रान्त से जुड़ा हुआ हो, पहले वह इन्सान है। इन्सानियत का तकाजा है कि ऊपर से ओढ़े गए भेदभावों के लबादे को उतार कर मनुष्य सबसे पहले मनुष्य बने। यही काम

आज सबसे कठिन प्रतीत हो रहा है। कवि की दो पंक्तियां इसी आशय को प्रकट कर रही हैं—

सजे-धजे संसार में मिलता सब सामान।

मुश्किल है बस ढूंढना एक भला इन्सान॥

दक्षिण भारत की ऐतिहासिक यात्रा में मद्रास चातुर्मास के बाद सन् 1969 में आचार्य तुलसी ने यह घोष तब दिया जब ईसाइयों, कम्यूनिस्टों एवं मुसलमानों के केन्द्र केरल की ओर उनके चरण गतिशील थे। उस यात्रा में ही नहीं, उसके बाद प्रायः सभी यात्राओं एवं प्रवास-क्षेत्रों में इस घोष का अकल्पित प्रभाव रहा।

कैसे बदले जीवनधारा : प्रेक्षाध्यान साधना द्वारा

व्यक्ति बदलना चाहता है, पर पुरुषार्थ एवं प्रयोग के बिना कोई बदल नहीं सकता। मेरी शरण में आ जाओ, उसकी शरण में चले जाओ, तुम्हारा जीवन बदल जाएगा, यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है। जैन दर्शन के अनुसार कोई व्यक्ति तभी बदल सकता है, जब उसका अपना पुरुषार्थ सही हो।

देश में चरमराते हुए नैतिक मूल्यों से आचार्य तुलसी को अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन करने की प्रेरणा मिली। पूरी सूझबूझ के साथ अणुव्रत की आचार-संहिता तैयार की गई। उसके प्रचार-प्रसार से एक वातावरण बना। वैचारिक धरातल पर एक क्रान्ति-सी घटित हो गई, फिर भी मनुष्य के संस्कारों एवं आदतों में बदलाव नहीं हुआ। संस्कार बदले बिना व्यक्ति के आचार-व्यवहार में परिवर्तन नहीं हो सकता। आचार्यश्री ने इस स्थिति का अनुभव किया। उन्होंने अपने शिष्य मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) को जैन आगमों के आधार पर विशेष शोध और प्रयोग करने का निर्देश दिया। मुनि नथमलजी ने सलक्ष्य जैन शास्त्रों का अवगाहन किया और उनमें बिखरे ध्यान के तत्त्वों को आधार बनाकर एक नई ध्यान पद्धति विकसित की, जो प्रेक्षाध्यान के नाम से प्रसिद्ध हुई। सन् 1977 में जैनविश्वभारती (लाडनू) के तुलसी अध्यात्म नीडम् में आचार्यश्री ने एक घोष दिया—**कैसे**

बदले जीवनधारा : प्रेक्षाध्यान साधना द्वारा।

भोजन की रेसिपी जानने मात्र से भोजन का लाभ नहीं मिल सकता, इसी प्रकार प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया का ज्ञानमात्र करने से जीवन में बदलाव नहीं आ सकता। बदलाव के लिए जरूरी है प्रेक्षाध्यान-शिविर में प्रशिक्षण प्राप्त करके लम्बे समय तक प्रयोग करना। प्रेक्षाध्यान के जितने शिविर आयोजित हुए हैं, उनमें अनेक वर्गों, अनेक विचारधाराओं और प्रायः सभी आयुमान के व्यक्ति संभागी बने हैं। उनमें से कुछ व्यक्तियों ने अपने जीवन में असाधारण बदलाव का अनुभव किया, कुछ व्यक्ति साधारण रूप में बदले और कुछ बदलाव के रास्ते पर आ गए। प्रबुद्ध और वैज्ञानिक दृष्टिवाले व्यक्ति शिविरों में साधना करके विशेष रूप से लाभान्वित हुए। इस आधार पर यह धारणा बल पकड़ती जा रही है कि किसी को बदलना है तो गहरी आस्था के साथ नियमित रूप से प्रेक्षाध्यान के प्रयोग करते रहें। ऐसी धारणा ही उक्त घोष की सार्थकता को उजागर करनेवाली है।

निज पर शासन : फिर अनुशासन

अनुशासन का सम्बन्ध साधना और व्यवस्था दोनों के साथ है। आत्मानुशासन के बिना साधना का विकास नहीं हो सकता और बाह्य अनुशासन के अभाव में व्यवस्थाओं का संचालन नहीं हो सकता। आत्मानुशासन सिद्ध होने पर बाह्य अनुशासन सहज सिद्ध हो जाता है। बाह्य अनुशासन आत्मानुशासन को जागृत या पुष्ट करने में निमित्त बन सकता है। अनुशासन में रहना जितना कठिन है, अनुशासन करना उससे भी कठिन है। अनुशासक को पग-पग पर सजग रहना होता है। उसका एक क्षण का प्रमाद अनुशासितों में अविश्वास का भाव पैदा कर सकता है।

अनुशासन करना सब चाहते हैं, अनुशासन में रहना कोई नहीं चाहता, यह वर्तमान युग की समस्या है। इसका प्रभाव राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, व्यावसायिक आदि सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है। आचार्यश्री ने इस समस्या का तीव्रता से अनुभव किया।

जन-जन में अनुशासन की चेतना जगाने के लिए आचार्य तुलसी ने सन् 1981 में समायोजित जयाचार्य निर्वाण शताब्दी वर्ष को 'अनुशासन

वर्ष' के रूप में मनाया। उस वर्ष में समय-समय पर 'अनुशासन वर्ष' के बारे में संगोष्ठियां हुईं। देश की राजधानी दिल्ली में विशाल रूप में अनुशासन रैली आयोजित की गई। उस रैली में देशभर से विभिन्न प्रान्तों के हजारों-हजारों व्यक्ति संभागी बने। "अनुशासन रैली" में न कोई गीत था और न नारे। मौन रैली की सुनियोजित व्यवस्था ने दिल्ली की पुलिस को विस्मय-विमुग्ध कर दिया। पुलिस- अधिकारियों ने आचार्यश्री से निवेदन किया—'इतनी विशाल रैली, इतना लम्बा रूट और पुलिस को बिलकुल भागदौड़ करने की जरूरत नहीं पड़ी। वह मात्र दर्शक की हैसियत से रैली के साथ-साथ चलती रही। यदि अन्यत्र कहीं भी इतनी बड़ी रैली निकलती है तो उसकी व्यवस्था में नियुक्त पुलिस परेशान हो जाती है।' आचार्यश्री बोले—'यह अनुशासन रैली थी। यदि इसमें भी अनुशासन का पालन नहीं होता तो हमें इसका नाम ही बदलना पड़ता। वास्तव में यह रैली किसी प्रदर्शन का नहीं, दर्शन का प्रतीक थी। इसमें अनुशासन नहीं रहता तो निज पर शासन : फिर अनुशासन—यह घोष ही अर्थहीन हो जाता।'

भारत की जनता में अनुशासन के संस्कार पुष्ट करने के लिए आचार्यश्री ने अनुशासन—गीत की रचना कर उसका संगान किया। अनुशासन के महत्त्व को उजागर करनेवाले उस गीत का ध्रुवपद और एक पद्य यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

जय ज्योतिर्मय चिन्मय दीप जले।

जय अनुशासन अन्तर्मन से स्वर निकले॥

निज पर शासन फिर अनुशासन हो यह शाश्वत वाणी।

जय शासन जय अनुशासन की धार बहे कल्याणी।

जन-जागृति की सहनाणी।

चिर संजोए मानस-सपन फले॥

अनुशासन तभी प्रभावी हो सकता है, जब व्यक्ति पहले स्वयं अनुशासित रहे। यह आचार्यश्री के अनुभव की वाणी थी। हर वर्ग ने इस घोष का स्वागत किया। जिन लोगों ने अपने जीवन में इसको प्रायोगिक रूप दिया, उनके सामने परिणाम भी अच्छा आया। पर उसके लिए भी धृति

की अपेक्षा रहती है। आज बीज बोया जाए और आज ही फल मिल जाए, यह संभव नहीं है। धैर्य के साथ प्रतीक्षा की जाए तो निष्ठा के साथ किया जानेवाला हर प्रयोग सफल हो सकता है। कदाचित दूसरों पर उसका असर न हो तो भी प्रयोक्ता के अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण निश्चित रूप में होता है, जो उसके जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है।

अनुशासनहीनता के इस युग में अनुशासन को प्रतिष्ठित करना जितना मुश्किल है, उससे भी अधिक मुश्किल है अनुशासन में रहने और अनुशासन करने की अर्हता अर्जित करना। आचार्य तुलसी के जीवन में ये दोनों अर्हताएं सहज रूप में विकसित थीं। इसी आधार पर उन्होंने निज पर शासन : फिर अनुशासन जैसा घोष जनता के सामने प्रस्तुत किया। परिवार हो या संगठन, व्यावसायिक प्रतिष्ठान हो या शिक्षा- संस्थान, विधानसभा हो या लोकसभा, सत्ता के शीर्ष पर रहने वाले व्यक्तियों में आत्मानुशासन का विकास हो जाए तो उनका अनुशासन भी प्रभावी बन सकता है।

नया सवेरा आए : सोया मन जग जाए

बीसवीं सदी में साइन्स और टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में अकल्पित विकास हुआ, उसकी रफ्तार देखकर भावी प्रगति का आकलन ही कठिन हो रहा था। हालांकि माना यह जाता है कि साधारण आदमी अपने मस्तिष्क का एक-दो प्रतिशत ही उपयोग करता है, वैज्ञानिक कोटि के व्यक्ति उसको पांच प्रतिशत तक काम में ले पाते हैं। आइंस्टीन का मस्तिष्क कुछ अधिक सक्रिय था, पर वह भी दस प्रतिशत तक नहीं पहुंच पाया। उनसे अधिक मस्तिष्क-शक्ति का उपयोग करने वाले कौन हो सकते हैं, यह शोध का विषय है। हालांकि यह तथ्य निर्विवाद है कि मनुष्य के मस्तिष्क की क्षमता असीम है, फिर भी एक स्वर यह भी सुनाई देता है कि उसका मन सोया रहता है। प्रश्न यह है कि मन है क्या? और वह कैसे जागृत हो सकता है?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मन—माइण्ड के तीन रूप हैं—अनकॉन्शियस, सबकॉन्शियस और कॉन्शियस—अवचेतन, अर्धचेतन और सचेतन। सामान्यतः व्यक्ति सचेतन मन से अभिप्रेरित होकर क्रिया करता है, जबकि उसके प्रभाव को स्थूल रूप में देखा जा सकता है। अर्धचेतन और अवचेतन

मन के रहस्यों को जानना और पकड़ पाना बहुत मुश्किल है। प्रत्यक्ष ज्ञान (अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान) की बात छोड़ दी जाए तो मनोजगत की यात्रा सहज नहीं है। केवल अनुमान के आधार पर उसकी कुछ आकृतियों को पकड़ना संभव हो सकता है।

यदि कम्प्यूटर की भाषा का उपयोग किया जाए तो यों समझा जा सकता है कि मस्तिष्क कम्प्यूटर है और मन सॉफ्टवेयर । सॉफ्टवेयर इंजीनियर कम्प्यूटर की प्रोग्रामिंग करता है। मन को प्रोग्रामर के रूप में स्वीकार किया जाए तो निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य के जीवन या व्यक्तित्व की प्रोग्रामिंग उसके मन/माइण्ड पर निर्भर है। मन यदि सोया रहेगा तो वह अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर पाएगा। इस दृष्टि से आचार्यश्री ने सन् 1985 में अपने धर्मशासना के पचासवें वर्ष में प्रवेश के अवसर पर एक घोष दिया—**नया सवेरा आए : सोया मन जग जाए।**

आचार्य तुलसी का हर बोल अनमोल है, चरण मंजिल का अहसास करानेवाला है और हर कार्य एक नया सन्देश देनेवाला है। उनके जीवन, दर्शन, अनुभवों और संस्मरणों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में जिन घोषों की चर्चा की गई है, उन सबके पीछे एक विशेष उद्देश्य है, विशेष दर्शन है और विशेष प्रेरणा है। उनके द्वारा लोक-चेतना को जागृत किया जा सकता है, उसकी दिशा बदली जा सकती है और उसमें नई प्रेरणा भरी जा सकती है। अपेक्षा है एक-एक घोष की पृष्ठभूमि को समझकर उस पर गहरी अनुप्रेक्षा की जाए।

11. महान स्वप्नद्रष्टा

समय के फलक पर ऐसे अनेक व्यक्तियों के रेखाचित्र उभरे हैं, जिन्होंने अपनी सही समझ, समयोचित सूझबूझ और विशिष्ट प्रतिभा के द्वारा समाज को नई दिशा और नया धरातल दिया। ऐसे व्यक्तियों में एक नाम आचार्य तुलसी का है। उन्होंने अपनी सृजनात्मक चेतना, पारदर्शी मनीषा, दिगन्तों तक पहुंचने वाली दृष्टि और कल्पना की नई उपज से अपने युग के समग्र परिवेश को प्रभावित किया। उनके विचारों में कहीं ठहराव नहीं था। वे पांवों से चलते थे, पर उनके मन की गति बहुत तेज थी। उनकी मानस-यात्रा का कोई ओर-छोर नहीं था। वे सपने देखते थे, पर नींद में देखे गए सपनों से भी अधिक संख्या संभवतः उनके दिवास्वप्नों की थी। उनके भीतर का संवेदन क्षण-क्षण नए शिल्पन का अनुगमन करता था। कुछ नया सोचना और नया करना? उनकी नियति थी। वे केवल नए सपने देखते ही नहीं थे, उन्हें साकार करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से पुरुषार्थ भी करते थे। स्वप्न देखने के बाद वे जब कभी दूसरों के सामने उसकी चर्चा करते तो किसी को विश्वास ही नहीं होता कि यह सपना पूरा हो पाएगा। उस प्रसंग का समर्थन मिलता या नहीं, आचार्यश्री अपने सपनों को लेकर कभी निराश नहीं हुए। जिस समय चारों ओर निराशा का अंधेरा छा जाता, उस समय भी उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानो रोशनी उनके दरवाजे पर दस्तक दे रही है। सबको असंभव लगनेवाले सपने को साकार करने की बात शून्य में सृजन करने जैसी आश्चर्यकारी है, पर इसके लिए बहुत खपना और तपना होता है।

आचार्यश्री ने अपने जीवन में कितने सपने देखे, उनके कितने सपने साकार हुए और कितने रेखाचित्रों में रंग भरना शेष रहा, पूरा विवरण

प्रस्तुत कर पाना बहुत मुश्किल है, फिर भी उनके कतिपय ऐसे सपनों का उल्लेख किया जा रहा है, जो साकार हुए और उनसे संघ, समाज व जनता लाभान्वित हो रही है।

1. दीक्षा-गुरु पूज्य कालूगणी के नेतृत्व में साधना के विभिन्न सोपानों पर आरोहण करके अपने सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण करना आचार्यश्री का पहला सपना था। इस स्वप्न की निष्पत्ति के रूप में उन्होंने ग्यारह वर्षों की छोटी-सी कालावधि में वह सब कुछ पा लिया, जिसे पाने के लिए कभी-कभी पूरा जीवन भी कम पड़ जाता है।

2. पूज्य कालूगणी के निर्देशानुसार अनेक बाल-साधुओं के शिक्षण और जीवन-निर्माण का दायित्व उन्होंने सोलह वर्ष की किशोरवय में संभाल लिया। बाल-साधुओं की शैक्षणिक गतिविधियों के संचालन की दृष्टि से कालूगणी के युग में 'तुलसी-पोशाल' नाम से एक पाठशाला चली। उस पाठशाला में पढ़नेवाले अनेक विद्यार्थी साधुओं को अपनी प्रतिभा निखारने का अच्छा अवसर मिला। आचार्य महाप्रज्ञ, शासन-गौरव मुनिश्री बुद्धमलजी आदि उसी पाठशाला के विद्यार्थी थे।

3. बाईस वर्ष की अवस्था में पूज्य कालूगणी द्वारा उनके उत्तराधिकारी मनोनीत होने के बाद उन पर अविलम्ब आचार्य पद का दायित्व आ गया। उस अवस्था में एक धर्मसंघ का समग्र दायित्व वहन करते हुए एक प्रभावी आचार्य के रूप में अपने संघ को नई ऊंचाइयों तक ले जाना आचार्यश्री का एक महत्वपूर्ण सपना था। इस एक स्वप्न को पूरा करने के लिए उन्होंने अनवरत अनेक सपने देखे और पूरे भी किए। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि छह दशकों का उनका शासनकाल तेरापंथ के विकास का स्वर्णिम काल था।

4. साध्वी-समाज में शिक्षा का विकास आचार्यश्री का एक सपना था। इस स्वप्न को साकार करने के लिए उन्होंने साध्वियों के अध्यापन का दायित्व भी स्वयं ही संभाला। वर्षों तक निरन्तर कठोर परिश्रम करके उन्होंने साध्वियों की अर्हता को विकसित किया। जिनके लिए प्राथमिक कक्षाओं के

विद्यार्थियों में खड़े होकर पांच मिनट बोलना भी संभव नहीं था, उन साध्वियों का वक्तृत्व और लेखन अपने युग के प्रबुद्ध वर्ग को प्रभावित कर रहा है, यह आचार्य तुलसी की संकल्प-शक्ति और पुरुषार्थ की जीवन्त गाथा है।

5. श्रुत-सागर में निमज्जन कर धर्मसंघ में ज्ञान की दृष्टि से ठोस धरातल तैयार करना आचार्यश्री का एक सपना था। इस स्वप्न को आकार देने के लिए उन्होंने आचार्य-काल के प्रथम दशक में आगम, न्याय, दर्शन, व्याकरण, कोश, काव्य आदि विभिन्न विषयों के गंभीर ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन एवं काव्य-सृजन में अपना समय नियोजित किया। मंजिल ने स्वयं आगे आकर उनकी अगवानी की।

6. देश की आजादी के बाद आचार्यश्री ने विकास की दृष्टि से कुछ नए उन्मेषों के बारे में चिन्तन किया। दीक्षा से पहले शिक्षा की अपेक्षा अनुभव करके उन्होंने कहा—‘समाज में शिक्षा के बढ़ते हुए स्तर को देखकर मैं अपने संघ में भी शिक्षा का विकास देखना चाहता हूँ। इस दृष्टि से जब तक दीक्षार्थियों की शिक्षा नहीं होगी, उनकी दीक्षा नहीं हो पाएगी।’ आचार्यश्री के इस स्वप्न को आकार मिला ‘पारमार्थिक शिक्षण संस्था’ के द्वारा। कन्याओं व महिलाओं की किसी संस्था में पुरुष-शिक्षकों द्वारा पढ़ाने की बात समाज के गले नहीं उतरी। इसका व्यापक विरोध हुआ, पर समाज के ही कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों ने साहस किया और शिक्षण-संस्था की स्थापना हो गई। उसके बाद सामान्यतः वहां ट्रेनिंग लेने के बाद ही दीक्षा-संस्कार सम्पन्न किया जाता है। पारमार्थिक शिक्षण संस्था में शिक्षा प्राप्त कर दीक्षित होनेवाले भाई-बहिनों की संख्या सात सौ से ऊपर पहुंच चुकी है।

7. व्यक्ति, समाज व राष्ट्र के नैतिक स्तर को उन्नत बनाने का सपना अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन से फलित हुआ।

8. व्यापक क्षेत्र में काम करने, संघ की गतिविधियों का प्रचार-प्रसार करने तथा सहित्य-प्रकाशन आदि गतिविधियों को संचालित करने का चिन्तन मुखर हुआ तो एक ऐसे संस्थान का सपना देखा गया, जो उक्त अपेक्षाओं पर खरा उतर सके। ‘आदर्श साहित्य संघ’ के रूप में एक संस्थान स्थापित हुआ, जिसने अपने कार्य से अपनी पहचान बना ली।

9. सन् 1949 तक आचार्यश्री का विहार क्षेत्र बहुत सीमित रहा। उन्होंने यात्रा क्षेत्र को विस्तार देने का सपना देखा। जयपुर और दिल्ली यात्रा ने उस सपने की सार्थकता प्रमाणित की। इससे सपना भी बड़ा हो गया। उसके बाद तो समय-समय पर सुदूर प्रदेशों की यात्रा का पथ प्रशस्त हो गया। असम आदि कुछ प्रदेशों को छोड़कर आचार्यश्री तुलसी ने लगभग पूरे भारत में परिभ्रमण कर लिया। पांव-पांव चलने वाले सूरज के रूप में आचार्यश्री की 60000-65000 किलोमीटर की यात्राएं अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है।

10. महाराष्ट्र के मंजर गांव में 'धर्मदूत' नामक पत्र पढ़ते समय आचार्य तुलसी का ध्यान बौद्ध पिटकों के सम्पादन की योजना पर केन्द्रित हुआ। उन्होंने सोचा—बौद्ध साहित्य सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। उसके पुनः सम्पादन एवं प्रकाशन की योजना बन रही है तो क्या जैन आगमों का सम्पादन नहीं हो सकता? अपने मन की बात उन्होंने मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) के सामने प्रस्तुत की। चिन्तन निर्णय तक पहुंचा और उसी दिन सायंकाल साधुओं की सभा में उसकी क्रियान्विति के संदर्भ में सूचित कर दिया गया। उसके बाद आचार्यश्री औरंगाबाद पधारे। वहां महावीर जयंती (सन् 1955) के ऐतिहासिक अवसर पर जैन आगमों को सम्पादित करने की सार्वजनिक घोषणा कर दी गई। उसी वर्ष उज्जैन चातुर्मास में सम्पादन का काम प्रारंभ हो गया, जो अब तक अनवरत चल रहा है और आगे भी चलता रहेगा। आचार्यश्री की वाचना-प्रमुखता में सम्पादित तथा जैनविश्वभारती द्वारा प्रकाशित आगम-साहित्य पर प्राप्त विद्वानों की समालोचनाएं उत्साहवर्धक हैं। यदि आचार्यश्री यह सपना नहीं देखते तो तेरापंथ को जैन-शासन की सेवा करने का सौभाग्य नहीं मिलता।

11. आचार्य तुलसी संघ-विकास के लिए बहुकोणीय चिन्तन करते थे। उनके चिन्तन का एक उच्छ्वास था उपासक श्रेणी। सन् 1960 में तेरापंथ द्विशताब्दी के ऐतिहासिक अवसर पर उन्होंने चिन्तन प्रारंभ किया और सन् 1963 के लाडनू चातुर्मास में उपासकों के लिए मासिक शिविर

की आयोजना की। उसमें उपासक की अर्हता, चर्या, साधना, प्रशिक्षण, दायित्व आदि बिन्दुओं के आधार पर उपासक श्रेणी का व्यवस्थित प्रारूप प्रस्तुत किया। वह प्रथम शिविर उपासक श्रेणी की बुनियाद बना। उसके बाद कई शिविर और आयोजित हुए। बीच में एक बार वह क्रम कुछ अवरुद्ध-सा हुआ। पर चूंकि यह युग की अपेक्षा थी, इसे पुनः प्रेरणा का सिंचन मिला। भाई-बहनों का उत्साह बढ़ा और उपासक श्रेणी के साथ जुड़ने का आकर्षण बढ़ता गया।

आचार्य तुलसी उपासक श्रेणी की योजना के प्रमुख कल्पनाकार थे। आचार्य महाप्रज्ञ और आचार्य महाश्रमण का भी इस श्रेणी के विकास में समय और श्रम लगा। वर्तमान में इसका पाठ्यक्रम, प्रशिक्षण-शिविर और यात्राएं व्यवस्थित रूप में चल रही हैं। प्रतिवर्ष उपासक-उपासिकाओं की संख्या में वृद्धि हो रही है। संख्या के साथ उनकी गुणवत्ता भी बढ़ती रहे, यही इस श्रेणी का मूल आधार है।

12. तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अवसर पर सामाजिक उत्क्रान्ति लाने के लिए आचार्य तुलसी ने 'नया मोड़' का सपना देखा। हालांकि यह सपना बहुत छोटा था, फिर भी इस स्वप्न को आकार देने में बाधाएं बहुत आईं। वह तो आचार्यश्री का संकल्प बल पुष्ट था, अन्यथा ऐसा सपना अधूरा रह जाता। इस स्वप्न ने तेरापंथ-समाज में सामाजिक कुरुड़ियों के प्रति दृष्टिकोण बदलकर नए विकास के कितने क्षितिज खोले, इसे वे सब लोग समझ रहे हैं, जिन्होंने बदलाव की प्रक्रिया के साथ जुड़कर कुछ अंशों में स्वस्थ समाज का स्वरूप उजागर किया।

13. प्राच्य विद्याओं के अध्ययन और शोध की दिशा में काम करना आचार्य तुलसी का एक सपना था। दीर्घकाल तक चिन्तन-मन्थन के बाद नागौर जिले के लाडनू कस्बे में सन् 1970 में जैनविश्वभारती की स्थापना हुई। शिक्षा, शोध, साधना, साहित्य, सेवा, संस्कृति और समन्वय-सात सकारों से संबद्ध उद्देश्यों को सामने रखकर जैनविश्वभारती में बहुआयामी गतिविधियां प्रारम्भ की गईं।

- शिक्षा की दृष्टि से वहां विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय तक शैक्षणिक व्यवस्था है।
शोध-कार्य को व्यवस्थित चलाने के लिए एक समृद्ध पुस्तकालय है, जिसका नाम है वर्धमान ग्रन्थागार। उसका उपयोग विश्वविद्यालय के विद्यार्थी, व्याख्याता, प्राचार्य एवं शोध-कार्य में संलग्न विद्यार्थी और विद्वान करते हैं। फिलहाल ग्रन्थागार में पुस्तकों की संख्या 63185 है तथा पाण्डुलिपियों (मेन्युस्क्रिप्ट्स) की संख्या 6655 है।
- साधना की दृष्टि से जैनविश्वभारती परिसर में स्थित 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' में ध्यान और योग का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रेक्षाध्यान के शिविरों का समायोजन भी वहां होता रहता है।
- साहित्य के क्षेत्र में जैनविश्वभारती का सर्वाधिक महत्वपूर्ण काम है आगम-साहित्य का प्रकाशन, संरक्षण, वितरण, विक्रय आदि। आचार्य तुलसी के साहित्य, आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य तथा कुछ अन्य साहित्य के प्रकाशन में भी इस संस्था की उल्लेखनीय भूमिका है।
- सेवा के क्षेत्र में जैनविश्वभारती का एक प्रकल्प है 'सेवाभावी कल्याण केन्द्र'। आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण एवं औषधालय का संचालन—इन दो माध्यमों से इस प्रकल्प की सेवाएं उपलब्ध हो रही हैं।
- 'श्रमण संस्कृति संकाय' के द्वारा जैन-विद्या का प्रचार-प्रसार करने के लिए देशभर में परीक्षाओं का आयोजन, परीक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम का निर्धारण और पुस्तकों का प्रकाशन आदि प्रवृत्तियों के माध्यम से संस्कृति को पल्लवित-पुष्पित किया जा रहा है।
- समन्वय प्रकोष्ठ के अन्तर्गत जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों तथा विश्व के सभी धर्मों के मध्य सद्भाव की स्थापना का प्रयास समय-समय

पर किया जाता है। इस प्रयास से सम्प्रदायों के बीच की दूरी कम हुई है और आपस में सद्भावना का वातावरण बना है।

14. जैनविश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) आचार्य तुलसी का एक ऐसा स्वप्न था जिसे साकार करना असंभव-सा प्रतीत हो रहा था। आचार्यश्री के दिल्ली-प्रवास में प्रकाशित आगम-साहित्य के लोकार्पण का कार्यक्रम था। उसमें यू.जी.सी. के अध्यक्ष श्री सच्चिदानन्द मूर्ति भी उपस्थित थे। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा कि आचार्यजी के सान्निध्य में आगम-साहित्य के सम्पादन एवं प्रकाशन का जो महत्त्वपूर्ण काम हुआ है, उसके आधार पर जैन विश्व भारती को यूनिवर्सिटी का दर्जा दिया जा सकता है। आचार्यश्री के मन में पहले से ही एक कल्पना थी। यू. जी. सी. के अध्यक्ष के द्वारा उसको बल मिला। तत्कालीन प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव की भी अनुकूलता रही और कुछ समय बाद जैन विश्व भारती को 'डीम्ड यूनिवर्सिटी' की मान्यता प्राप्त हो गई।

जैन विश्व भारती संस्थान को जैन समाज का पहला विश्वविद्यालय बनने का गौरव मिला। आचार्यश्री ने इस विश्वविद्यालय को यूनिक बनाने का सपना भी देखा। इस दृष्टि से उन्होंने इसके चांसलर, वाइस चांसलर आदि अधिकारी व्यक्तियों को मार्गदर्शन देने के साथ पूरे स्टाफ को भी कई बार प्रशिक्षण दिया। इसी दृष्टि से इसके एकेडमिक कार्यों में समण श्रेणी को नियोजित किया गया।

15. साधु और श्रावक के बीच एक ऐसी श्रेणी हो, जो सांसारिक जीवन के झंझटों से मुक्त हो और साधु जीवन की कठोरतम मर्यादाओं से भी आबद्ध न हो, यह आचार्य तुलसी का एक चिरपालित सपना था। आचार्यश्री की कल्पना थी कि इस श्रेणी का आध्यात्मिक स्तर अच्छा हो, शैक्षणिक स्तर उन्नत हो और इसे देश-विदेश में जैन धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों, मानवीय मूल्यों एवं योग विद्या के शिक्षण-प्रशिक्षण का दायित्व देकर कार्य में नियोजित किया जाए। इसी प्रकार जहां-जहां अपेक्षा हो, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों, सेमिनारों आदि में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करने का अवसर दिया जाए।

लम्बे समय तक सघन चिन्तन के बाद आचार्यश्री ने अपूर्व साहस करके अपना सपना साकार किया। सन् 1980 में 'समण श्रेणी' नाम से एक नई श्रेणी की स्थापना हो गई। सर्वथा नया काम होने के कारण प्रारंभ में इसका विरोध भी हुआ। उस विरोधी वातावरण में आचार्यश्री ने इस श्रेणी को प्रतिष्ठित करने का लक्ष्य बनाया और उसमें सफलता प्राप्त की। जैसे-जैसे समण-श्रेणी का कर्तृत्व सामने आया, इसकी उपयोगिता प्रमाणित हुई तो प्रायः सभी लोगों ने स्वीकार किया कि यह आचार्य तुलसी का दूरदर्शितापूर्ण साहसिक कदम है। युगीन अपेक्षा के अनुरूप एक नई श्रेणी तैयार कर उन्होंने जैन-शासन का बहुत उपकार किया है। इस श्रेणी में अब तक दो सौ से अधिक दीक्षाएं हो चुकी हैं।

16. एक समय था, जब जैन-शासन के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच बहुत चौड़ी खाई थी। आचार्य तुलसी ने स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली को देखा और सोचा—जब राजनीति में दो विरोधी पार्टियां संसद भवन में एक साथ बैठकर राष्ट्र के हित में विचार-विमर्श कर सकती हैं तो धर्म के मंच पर विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि एक साथ क्यों नहीं बैठ सकते? भगवान महावीर को अपना आराध्य माननेवाले उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना-पद्धति को स्वीकार करनेवाले और उनके ही सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले साधु-साधवियां सौहार्द एवं सद्भावना के साथ काम करें तो उसका कितना अच्छा परिणाम आ सकता है।

उक्त प्रकार की प्रेरणा से अभिप्रेरित होकर आचार्यश्री ने 'जैन एकता' की दृष्टि से उपयुक्त वातावरण बनाने का प्रयास किया। कुछ अन्य आचार्यों ने भी युग की अपेक्षा समझकर अपनी विचारधारा बदली। परस्पर मिलन और विचार-विनिमय से निकटता बढ़ने लगी। भगवान महावीर की पचीसवीं निर्वाण-शताब्दी का एक विशेष अवसर सामने आया। उस सन्दर्भ में जैनधर्म के प्रमुख चारों सम्प्रदायों (दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथ) के आचार्यों तथा प्रमुख मुनियों ने सहचिन्तन कर कार्यक्रम निर्धारित किए। एक प्रतीक, एक ध्वज, एक ग्रन्थ आदि के संदर्भ में हुई सहमति से सब एक-दूसरे के निकट आए। रामलीला मैदान में आयोजित

निर्वाण-शताब्दी के मुख्य समारोह में चारों सम्प्रदायों के आचार्यों व साधु-साध्वियों की विशाल उपस्थिति से जनता को 'जैन एकता' का अद्भुत नजारा देखने का अवसर मिला।

हालांकि निर्वाण-शताब्दी के उपलक्ष्य में जो कार्य सम्पादित हुए, वे सबके लिए उत्साहवर्धक थे, फिर भी कुछ आवश्यक कार्य अवशेष रह गए। उनमें एक कार्य था संवत्सरी की एकता। आचार्यश्री ने यह स्वप्न बहुत वर्षों पहले देखा। इसे साकार करने के लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न किए। अनेक आचार्यों तक अपने विचार प्रेषित किए। कुछ संकल्प भी किए। 'भारत जैन महामंडल' के माध्यम से भी प्रयास किया गया। एक बार कुछ सफलता मिली भी, पर वह स्थायी नहीं हो सकी। आचार्यश्री ने अपने इस अधूरे स्वप्न की चर्चा करते हुए 'श्रावक-संबोध' नामक ग्रन्थ में लिखा है -

जो महापर्व पज्जोसवणा,
सब जैन मनाएं एक साथ।
तो हो आनन्द अनिर्वचनी,
कब आएगा स्वर्णिम प्रभात॥

आचार्यश्री के मन में 'पर्युषण महापर्व' या संवत्सरी की एकता के लिए इतनी गहरी तड़प थी कि उन्होंने अपने जीवन के आखिरी दो-तीन दिनों में कहा था- 'यदि सब सम्प्रदायों के अधिकृत व्यक्ति जैन एकता का यह काम मुझे सौंप दें तो मैं एक संवत्सरी मनाने की बात सबके गले उतार सकता हूँ।' काश! आचार्यश्री का यह सपना भी साकार हो पाता। अब तो काललब्धि के परिपाक से ही ऐसा कुछ हो पाया तो वह जैन-शासन के लिए एक बड़ी उपलब्धि होगी।

आचार्यश्री द्वारा देखे गए छोटे-छोटे सपनों पर पूरा प्रकाश डाला जाए तो एक बहुत बड़ा आलेख तैयार हो सकता है। मनोवैज्ञानिक ढंग से उन स्वप्नों का विश्लेषण किया जाए तो अनेक नए तथ्य सामने आ सकते हैं। इसी प्रकार कोई शोध विद्यार्थी आचार्यश्री के सपनों को अपने शोध का विषय बनाए तो उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के अब तक के अनछुए पहलुओं पर नई दृष्टि से काम किया जा सकता है।

संस्कार निर्माण का उपक्रम : ज्ञानशाला

विदेश में रहनेवाले कुछ जैन परिवार आचार्य तुलसी के उपपात में बैठे थे। उन्होंने विदेशों में जन्म लेने वाले, वहीं बड़े होनेवाले और वहीं पर शिक्षा प्राप्त करनेवाले अपने बच्चों के बारे में चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा— 'हम अपने बच्चों को जैनत्व के, धर्म के और भारतीय संस्कृति के संस्कारों से संस्कारित कैसे करें?' इस प्रश्न के सन्दर्भ में आचार्यश्री का ध्यान भारत में रहनेवाली बाल/किशोर पीढ़ी की ओर केन्द्रित हुआ। उन्होंने अनुभव किया कि यह समस्या केवल विदेशों की ही नहीं है, देश में रहनेवाले बच्चे भी साधु-साध्वियों के सम्पर्क में कम आते हैं। कुछ बच्चों को ऐसा मौका मिल जाता है तो भी उनके संस्कार-निर्माण की दृष्टि से शिक्षण- प्रशिक्षण की कोई सुनियोजित व्यवस्था नहीं है। यदि इस समस्या का समाधान नहीं खोजा गया तो मीडिया के माध्यम से परोसी जानेवाली विकृतियां भावी पीढ़ी के भविष्य को धुंधला बना देंगी।

बाल पीढ़ी के संस्कार-निर्माण की दृष्टि से आचार्य तुलसी ने जो सपना देखा उसकी निष्पत्ति है ज्ञानशाला। जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के निर्देशानुसार 350 से अधिक क्षेत्रों में ज्ञानशालाओं का संचालन हो रहा है। ज्ञानशाला का निश्चित पाठ्यक्रम है। ज्ञानशाला में प्रशिक्षण देनेवालों के लिए भी पूरा पाठ्यक्रम है। उस पाठ्यक्रम के अनुसार प्रशिक्षित प्रशिक्षक ही ज्ञानशाला में पढ़ाने के अधिकारी होते हैं। इस समय जो ज्ञानशालाएं चल रही हैं, वहां प्रायः साप्ताहिक और कहीं-कहीं निरन्तर कक्षाएं लगती हैं। ज्ञानशाला में पढ़ानेवाले डिग्रीधारी प्रशिक्षकों की संख्या 3951 है। उनमें अधिक संख्या 'तेरापंथ महिला मंडल' की प्रशिक्षित बहनों की है। ज्ञानशालाओं में पढ़नेवाले ज्ञानार्थी 13701 हैं। इतनी बड़ी संख्या में संस्कारी बच्चों का निर्माण एक बहुत बड़ी अपेक्षा की पूर्ति है।

12. समस्याओं के समाधान में आचार्य तुलसी का योगदान

आचार्य तुलसी वैयक्तिक और सामाजिक चरित्र के प्रति जितने जागरूक थे, राष्ट्रीय चरित्र के प्रति भी उतने ही सजग थे। उनका अभिमत था कि राष्ट्रीय चरित्र का प्रभाव व्यक्ति पर होता है और वैयक्तिक चरित्र से राष्ट्रीय चरित्र उदात्त बनता है। राष्ट्र क्या, उनका हृदय तो समग्र मानव-जाति के प्रति करुणा से भरा हुआ था। इसीलिए वे समाज, राज्य और राष्ट्र की सरहदों से ऊपर उठकर विश्व के बारे में सोचते थे। 1 सितम्बर 1939 से 2 सितम्बर 1945 के बीच का समय द्वितीय विश्व युद्ध की ज्वाला से संतप्त हो रहा था। युद्ध का उन्माद चाहे कहीं भी हो, उसका दुष्प्रभाव सब जगह होता है। युद्ध का संत्रास भोगने के बाद 22 जून 1945 को लंदन में विश्व-शांति के उद्देश्य से 'विश्व धर्म सम्मेलन' के आयोजन की योजना बनी। जैनधर्म के प्रतिनिधि की हैसियत से आचार्यश्री उस सम्मेलन में संभागी बनें, ऐसा सुझाव आया। पदयात्री जैन मुनि की भूमिका में विदेश-यात्रा की कोई संभावना नहीं थी। उस स्थिति में दूसरा सुझाव आया कि आचार्यश्री को सम्मेलन के लिए सन्देश अवश्य देना चाहिए।

हालांकि उस समय तक आचार्यश्री का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं बन पाया था, फिर भी वे विश्व की समसामयिक परिस्थितियों से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने सन्देश लिखने की बात स्वीकार की। वे चाहते तो पांच-सात पंक्तियों का सन्देश देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते। किन्तु उन्होंने समग्रता से चिन्तन-मनन किया और विश्वशान्ति के सन्दर्भ में एक विस्तृत आलेख तैयार किया। 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' शीर्षक से लिखित उस आलेख का अंग्रेजी रूपान्तरण लन्दन प्रेषित किया गया।

कालान्तर में आचार्यश्री का वह सन्देश एक बुकलेट के रूप में प्रकाशित हुआ। बुकलेट महात्मा गांधी के पास पहुंची। उन्होंने उसका अध्ययन किया। कुछ स्थलों पर प्रश्नचिह्न अंकित किए। अन्त में अपनी प्रतिक्रिया लिखी—‘कितना अच्छा होता यदि इस महापुरुष द्वारा बताए सिद्धान्तों पर संसार चलता।’

‘अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश’ पुस्तिका का प्रकाशन लन्दन में हुए ‘विश्व धर्म सम्मेलन’ के बाद काफी विलम्ब से हुआ था। प्रस्तुत सन्दर्भ में गांधीजी ने लिखा—‘ऐसी पुस्तक के प्रकाशन में विलम्ब क्यों हुआ?’

राष्ट्र के लिए साधु-साधवियों की फौज का समर्पण

14 नवम्बर 1951 की बात है। आचार्य तुलसी दिल्ली का चातुर्मास सम्पन्न कर राजस्थान जानेवाले थे। राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने परामर्श दिया कि आचार्यजी को प्रधानमंत्री नेहरूजी से मिलना चाहिए। आचार्यश्री ने कहा—‘पंडितजी के साथ हमारा कोई परिचय नहीं है। आप व्यवस्था करें तो हम उनसे मिल सकते हैं।’ राष्ट्रपति महोदय ने प्रधानमंत्री को पत्र लिखा—‘प्रिय प्रधानमंत्रीजी! आचार्य तुलसीजी से आपका मिलना देश के हित में होगा। वे अभी दिल्ली आए हुए हैं। यदि संभव हो तो इस विषय पर विचार करें।’

प्रधानमंत्री को राष्ट्रपति महोदय का पत्र प्राप्त हुआ। उसके उत्तर में उन्होंने लिखा—‘प्रिय राष्ट्रपतिजी! मुझे आचार्य तुलसी से मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी। मैं इन दिनों बहुत व्यस्त हूँ। इसलिए आचार्यजी यदि प्रधानमंत्री निवास पर दर्शन दें तो बहुत कृपा होगी।’

राष्ट्रपति महोदय ने प्रधानमंत्री की भावना आचार्यश्री तक पहुंचा दी और यह भी बता दिया कि उन्होंने 13 नवम्बर को रात्रि में सात बजे का समय तय किया है। 13 नवम्बर का दिन चातुर्मासिक सम्पन्नता का दिन था। उस दिन आचार्यश्री अपना प्रवास-स्थल छोड़कर नहीं जा सकते थे। राष्ट्रपतिजी ने इस बात की जानकारी प्रधानमंत्री को दी तो उन्होंने आचार्यश्री की सुविधा के अनुसार समय निर्धारित करने के लिए कहा। आखिर 14 नवम्बर को दोपहर में ढाई बजे का समय तय किया गया।

14 नवम्बर को आचार्यश्री कुछ साधुओं और कुछ श्रावकों के साथ प्रधानमंत्री के निवास स्थान पर पहुंचे। उन्होंने आचार्यश्री का स्वागत करते हुए कमरे में बैठने का अनुरोध किया। कमरे में कालीन बिछा हुआ था। आचार्यश्री ने कालीन पर बैठना स्वीकार नहीं किया तो प्रधानमंत्री ने बरामदे में बैठने की प्रार्थना की। वहां उपयुक्त स्थान देखकर आचार्यश्री और नेहरूजी बैठ गए। आचार्यश्री के पास कुछ साधु बैठे और प्रधानमंत्री ने गृहमंत्री कैलाशनाथ काटजू, यू. पी. के मुख्यमंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पन्त और अपनी पुत्री प्रियदर्शिनी इन्दिरा गांधी को वहीं बुला लिया।

एक ओर अध्यात्म के शिखर पुरुष, दूसरी ओर राजनीति के शिखर पुरुष। दोनों का प्रथम बार मिलन। अपरिचय की दीवार बीच में थी। उसमें द्वार कैसे बने? प्रधानमंत्री ने मौन खोला। उन्होंने वार्तालाप का सिलसिला शुरू करते हुए कहा—‘बोलिए आचार्यजी! आप क्या चाहते हैं?’ आचार्यश्री बोले—‘हम कुछ नहीं चाहते।’ बात प्रारंभ होने से पहले ही समाप्त हो गई। नेहरूजी को ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी। उन्होंने कुतूहल के साथ पूछा—‘फिर आपका यहां आने का उद्देश्य क्या है?’ आचार्यश्री ने सहजता के साथ कहा—‘प्रधानमंत्रीजी! आपसे अब तक हमारा कोई परिचय नहीं है। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू को हम जानते हैं। उनका चिन्तन था कि हम आपसे मिलें और अपने मिशन ‘अणुव्रत’ की जानकारी आपको दें।’

आचार्यश्री के मिशन के बारे में प्रधानमंत्री की उत्सुकता देखकर आचार्यश्री बोले—‘प्रधानमंत्रीजी! आपको शायद ज्ञात होगा कि हम कुछ वर्षों से एक नैतिक अभियान चला रहे हैं। उसका उद्देश्य है—राष्ट्रीय चरित्र का उत्थान। हमने सोचा—हमारे पास पांच सौ पदयात्री साधु-साध्वियों की फौज है। आप देश के नैतिक उत्थान में इस फौज का उपयोग करना चाहें तो वह तैयार है। आपको यह बात बताने के लिए हम यहां आए हैं।’

आचार्यश्री की बात सुनकर प्रधानमंत्री ने प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने अणुव्रत के बारे में विस्तार से जानकारी चाही और यह भी पूछा कि अब तक कितने व्यक्ति अणुव्रती बन गए। आचार्यश्री ने अणुव्रत के असाम्प्रदायिक स्वरूप की अवगति देते हुए बताया कि लगभग एक हजार व्यक्ति अणुव्रती

बन चुके हैं। अणुव्रत की एक व्यवस्थित आचार-संहिता है। हम चाहते हैं कि हमारे जाने के बाद भी दिल्ली में अणुव्रत का कार्यक्रम चलता रहे।

प्रधानमंत्री अणुव्रत के असाम्प्रदायिक स्वरूप से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने समय मिलने पर अणुव्रत-साहित्य पढ़ने की इच्छा प्रकट की। इकतालीस मिनट के उस वार्तालाप में अनेक विषयों पर चर्चा हुई। वार्तालाप का सर्वाधिक आकर्षक बिन्दु था आचार्यश्री द्वारा देश के लिए अहिंसक साधु-साध्वियों की सेवा का समर्पण।

राजीव-लॉगोवाल समझौते का सार्थक प्रयास

सन् 1985 में आचार्य तुलसी का आमेट (उदयपुर) में चातुर्मासिक प्रवास था। उन दिनों पंजाब की समस्या सिर उठाए खड़ी थी। हिंसा और आतंक का वातावरण था। जन-जीवन अशान्त था। आचार्यश्री स्वयं पंजाब जाकर वहां की जनता और उग्रवादी संगठनों को शान्ति का सन्देश देना चाहते थे। हालांकि क्षेत्रीय दूरी के कारण वे पंजाब जा नहीं सके, फिर भी उस आतंक के वातावरण में अपने शिष्य-शिष्याओं को वहां काम करने का निर्देश दिया। शान्ति, सौहार्द और सद्भावना का वातावरण बनाने की दृष्टि से उन्होंने भारत सरकार और अकाली दल के नेताओं तक अपने विचार पहुंचाए। इसी संदर्भ में उन्होंने अकाली दल के अध्यक्ष श्री हरचन्दसिंह लॉगोवाल के नाम विशेष सन्देश दिया। श्री लॉगोवाल ने आचार्यश्री के विचारों के प्रति अपना विश्वास व्यक्त किया और अपने विचार लिखित रूप में उनके पास पहुंचाए। वैचारिक आदान-प्रदान के बाद आचार्य तुलसी और लॉगोवाल के मिलन का कार्यक्रम निश्चित हो गया।

9 जुलाई 1985 को सन्त हरचन्दसिंह लॉगोवाल और श्री सुरजीतसिंह बरनाला प्लेन द्वारा दिल्ली से उदयपुर पहुंचे। उदयपुर से कार द्वारा वे लगभग एक बजे आमेट के तेरापंथ सभा भवन में आ गए। लोगों की उत्सुक भीड़ में दोनों सन्तों का औपचारिक मिलन हो गया। चार बजे से पौने छह बजे तक आचार्यश्री और लॉगोवालजी के बीच गंभीर विचार-विमर्श हुआ। वार्तालाप के बाद पत्रकारों की जिज्ञासा पर दोनों मनीषियों ने कहा—‘हमारी बातचीत अनेक मुद्दों पर हुई है। उससे हमें पूरा सन्तोष और प्रसन्नता है।’

रात्रि में एक सार्वजनिक सभा में दोनों सन्तों के वक्तव्य हुए। सन्त लोंगोवाल ने अपने वक्तव्य में कहा—‘महाराणा प्रताप की इस पवित्र धरती पर मुझे आचार्य तुलसी जैसे महान संतों से मिलने का अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य है। आज देश में हिंसा के बादल छाए हुए हैं। उन्हें हटाने में आचार्य तुलसी जैसे महान संतों का बड़ा योगदान हो सकता है।’ लोंगोवालजी ने अपने वक्तव्य में यह भी कहा कि सिख जाति को बदनाम करने के लिए मुख्य रूप से तीन बातें प्रचारित की जा रही हैं—

1. सिख आतंकवादी हैं।
2. सिख अलगाववादी हैं। वे देश के टुकड़े-टुकड़े करना चाहते हैं।
3. सिख हिन्दुओं के दुश्मन हैं।

उक्त तीनों बातों के प्रतिवाद में संतजी ने कहा—

1. यदि सिख आतंकवादी हैं तो उच्चतम न्यायालय के द्वारा जांच होनी चाहिए और दोषी व्यक्तियों को सजा मिलनी चाहिए।
2. शिरोमणि अकाली दल ने कभी खालिस्तान की मांग नहीं की। देश की एकता व अखण्डता के लिए हमने प्रतिबद्धता प्रकट की।
3. सिखों ने हिन्दुओं के साथ भाईचारे का व्यवहार किया है।

आचार्यश्री ने अपने वक्तव्य में संत लोंगोवाल की पीड़ा और देशप्रेम का हवाला देते हुए अपनी ओर से महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए। उनके विचारों का सार-संक्षेप बिन्दु-बिन्दु रूप में यहां प्रस्तुत है—

- समस्या का समाधान बातचीत के द्वारा होना चाहिए।
- बातचीत के लिए स्वस्थ और विश्वस्त वातावरण का निर्माण होना चाहिए।
- जनता और सरकार दोनों के सहयोग से ही ऐसा वातावरण बन सकता है।
- हिंसा कहीं भी हो और किसी भी व्यक्ति या वर्ग के द्वारा हो, उसकी भर्त्सना होनी चाहिए।

- कोई व्यक्ति गलत हो सकता है, किन्तु उसके कारण पूरी कौम को गलत बताने या बदनाम करने का कोई औचित्य नहीं है। गलत या बुरे व्यक्ति किस कौम में नहीं होते। ऐसे व्यक्तियों के कारण पूरी कौम को दोषी करार देना ठीक नहीं है। सिख कौम एक बहादुर कौम है। वह राष्ट्रभक्त है। उसकी देशभक्ति के बारे में सन्देह नहीं होना चाहिए। कुछ सिखों के कारण सारे सिखों के प्रति अविश्वास करना उनके प्रति न्याय नहीं होगा। जहां कहीं भी जख्म हुआ है, उसे मरहम पट्टी करके ठीक करना चाहिए।

वार्तालाप के दौरान आचार्यश्री ने लोंगोवालजी को परामर्श दिया कि वे सरकार के साथ बातचीत करें और शान्ति के साथ पंजाब-समस्या का हल करें। प्रथम बार में श्री लोंगोवाल आचार्यश्री के इस कथन से सहमत नहीं हो पाए। उन्होंने कहा—‘इस सम्बन्ध में हमने कोई दो दर्जन मीटिंग्स कर ली हैं। आठ-नौ मीटिंग्स तो इन्दिराजी के साथ कीं। उनमें बरनाला, टोहरा, बादल और मैं सभी थे। इन्दिराजी ने कहा कि सब मिलकर तय कर लो। उनके निर्देश से सब पार्टियों ने मिलकर कुछ बातें निर्णीत कीं। हमने जो मसला भारत सरकार के सामने रखा, उस बारे में सरकार की ओर से कुछ नहीं हुआ। सत्तारूढ़ पार्टी, विरोधी पार्टी और हमारी पार्टी ने मिलकर एक त्रिआयामी प्रयत्न भी किया था पर कोई नतीजा नहीं निकला।’

आचार्यश्री ने बातचीत को आगे बढ़ाते हुए एक सुझाव दिया—‘सन्तजी। अब तो सरकार बदल गई है। क्या आप यह ठीक नहीं समझते कि एक बार फिर आजमाइश करके देखा जाए ? लोंगोवालजी आचार्यश्री के परामर्श को बहुमान दे रहे थे, किन्तु उनके मन में सरकार के प्रति भरोसा नहीं था। आचार्यश्री ने अपनी ओर से कुछ नई दलीलें देकर कहा—‘सरकार से बात ही नहीं होगी तो समझौता किस आधार पर होगा?’

आचार्यश्री की दलीलें लोंगोवालजी के दिल को छू गईं। वे आमेट पहुंचे थे, उस समय तक उनकी मानसिकता यही थी कि सरकार से बात करने में कोई लाभ नहीं है। आचार्यश्री की प्रेरणा से उनके मन में कुछ उथल-पुथल सी हुई। उनके विचार बदले। उन्हें अनुभव हुआ कि आचार्यजी के

साथ तो उनका कई जन्मों का नाता है। आमेट से विदा होने से पूर्व उन्होंने आचार्यश्री के कथन पर अपनी सहमति की मुहर लगाते हुए कहा—‘आपकी प्रेरणा से मेरा मन बदल गया। हम उपयुक्त वातावरण में सरकार के साथ बात कर सकते हैं।

उसके बाद पंजाब-समस्या को लेकर सरकार के साथ जो समझौता हुआ, वह राजीव-लॉगोवाल समझौते के रूप में एक दस्तावेज बन गया।

उस सन्दर्भ में भारत सरकार के गृहमंत्री श्री एस. वी. चव्हाण आमेट आए। उन्होंने एक सार्वजनिक सभा में राजीव-लॉगोवाल समझौते में रही आचार्य तुलसी की विशिष्ट भूमिका के लिए आभार प्रकट किया।

संसदीय गतिरोध की समाप्ति

सन् 1994, अगस्त का प्रथम सप्ताह। देश की राजधानी दिल्ली में लोकसभा और राज्यसभा के वर्षाकालीन सत्र का प्रारंभ। 5 अगस्त सोमवार को सर्वदलीय संसदीय रिपोर्ट प्रस्तुत की गई। विरोधी पार्टियों ने उस कार्यवाही में बाधा उपस्थित की। संसद में गतिरोध आ गया। प्रतिपक्ष ने दोनों सदनों का बहिष्कार कर दिया। कोई किसी को सुनने के लिए तैयार नहीं हुआ। एक-एक कर सात दिन बीत गए। संसद का कामकाज ठप्प हो गया। विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश की प्रतिष्ठा दांव पर लग गई। लोकसभा के अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल ने गतिरोध दूर करने के लिए अनेक प्रयास किए, पर सफलता नहीं मिली। न सत्ता पक्ष झुकने को तैयार था और न प्रतिपक्ष। देशभर में चिन्ता की लहर दौड़ गई।

उन दिनों आचार्य तुलसी दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। जिस दिन संसद में गतिरोध उत्पन्न हुआ, उसी दिन वह बात उनके पास पहुंच गई। उन्होंने उसी समय से इस विषय में चिन्तन करना शुरू कर दिया। एक सप्ताह तक उस समस्या का समाधान नहीं हुआ तो उनकी चिन्ता सघन हो गई।

13 अगस्त को आचार्यश्री ने भारतीय राजनीति के विशिष्ट व्यक्तियों को लक्ष्य कर भगवान महावीर के अनेकान्त दर्शन का हवाला देते हुए एक महत्वपूर्ण सन्देश लिखा। वह सन्देश अनेक सांसदों के पास पहुंचाया गया।

जिनके पास वह सन्देश पहुंचा, उनका सकारात्मक समर्थन मिला। जिन्होंने इस सन्दर्भ में अपने चिन्तन के दरवाजे बन्द कर लिए थे, उनके दरवाजों पर एक प्रभावशाली दस्तक हुई। स्वयं प्रधानमंत्री श्री नरसिम्हा राव ने इस सन्देश का उल्लेख करते हुए कई सांसदों से बात की। कुछ प्रमुख सांसद आचार्यश्री से मिलने के लिए अध्यात्म साधना केन्द्र, महारौली पहुंचे। उनमें पूर्व प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह, वित्तमंत्री मनमोहन सिंह, भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी, चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन, लोकसभा के अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने आचार्यश्री के सान्निध्य में खुलकर विचार-विमर्श किया। राजनैतिक दृष्टि से उलझनपूर्ण स्थिति का अनुभव करते हुए भी उन्होंने आचार्यश्री की सूझबूझ को दाद दिया और यह विश्वास व्यक्त किया कि वे अपनी ओर से गतिरोध को बनाए रखने में निमित्त नहीं बनेंगे।

17 अगस्त, 1994 को लोकसभा के केन्द्रीय हॉल में विपक्ष के नेता अटलबिहारी वाजपेयी का सम्मान समारोह था। उस कार्यक्रम में लम्बे समय से चले आ रहे संसदीय गतिरोध को दूर करने का निर्णय लिया गया गया। सभी दलों के सांसदों, मंत्रियों, प्रधानमंत्री और लोकसभा के अध्यक्ष आदि ने इस कार्य में आचार्यश्री द्वारा किए गए सामयिक प्रयत्न के प्रति प्रशंसा के स्वर मुखरित किए।

17 अगस्त, 1994 को प्रातः संसदीय गतिरोध दूर हुआ और रात्रि में लगभग आठ बजे प्रधानमंत्री श्री नरसिम्हाराव ने आचार्यश्री के दर्शन किए। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा—‘आचार्यश्री! संसदीय गतिरोध को दूर करने में आपके सन्देश का अच्छा प्रभाव रहा।’ आचार्यश्री बोले—‘आपने समय पर गतिरोध समाप्त करने का निर्णय ले लिया, उसके लिए साधुवाद।’

18 और 19 अगस्त के समाचार-पत्रों ने संसदीय गतिरोध को दूर करने में आचार्यश्री के महत्वपूर्ण अवदान के संवाद विशेष रूप से प्रकाशित किए। इससे पूरे देश में एक वातावरण बना। आचार्यश्री का कर्तृत्व एक बार फिर मुखर हो उठा। इस सन्दर्भ में अनेक प्रबुद्ध व्यक्तियों ने कहा—‘अब अयोध्या की समस्या का हल खोजने के लिए आचार्यश्री को आगे आना

चाहिए।' कुछ लोग बोले—'आचार्यश्री राष्ट्र के लिए इतना काम करते हैं, इसीलिए तो इन्हें 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है।

प्रस्तुत प्रकरण में देश की समस्याओं के कुछ बड़े मसलों के समाधान में आचार्य तुलसी के चिंतन और प्रयास की संक्षिप्त-सी चर्चा की गई है। छोटे-छोटे मसलों के बारे में तो अनेक नेताओं ने समय-समय पर आचार्यश्री के साथ बैठकर विचार-विमर्श किया और उनसे मार्गदर्शन पाकर अपना पथ प्रशस्त किया।

13. दलितों/अछूतों के मसीहा

भगवान महावीर के धर्म-दर्शन की आधारशिला है समता का सिद्धान्त। **समया धम्ममुदाहरे मुणी**—ज्ञानियों के अनुसार समता ही धर्म है, **एक्का मणुस्सजाई**—मनुष्य जाति एक है, **णो हीणे णो अइरित्ते**—कोई मनुष्य हीन या अतिरिक्त नहीं है, इस प्रकार के अनेक सूक्त हैं, जो मानवीय एकता के सिद्धान्त को पुष्ट करनेवाले हैं।

आचार्य तुलसी जैन आगमों के प्रति गहरा विश्वास रखते थे। इसी आधार पर उन्होंने अणुव्रत की आचार-संहिता की एक धारा बनाई—में मानवीय एकता में विश्वास करूंगा। अणुव्रती बननेवाले के लिए इस धारा की अनुपालना अनिवार्य है। इस धारा की दो उपधाराएं हैं—

- जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को उच्च-निम्न नहीं मानूंगा।
- अस्पृश्य नहीं मानूंगा।

अणुव्रती बननेवाला किसी को अस्पृश्य/अछूत नहीं मानता। पर जो लोग अणुव्रती नहीं हैं, उनके मन में भी छुआछूत की भावना न रहे, यह युग की अपेक्षा है। धर्म की दृष्टि से सत्ता, सम्पदा और जाति के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा मानना मानवता का कलंक है, अभिशाप है। इसी प्रकार भारतीय संविधान ने भी छुआछूत की मनोवृत्ति को असंवैधानिक और अपराध माना है। इसके बावजूद लोक-चेतना का सही ढंग से जागरण नहीं हो पाया था। धर्म और संविधान की बात धर्मशास्त्रों और कानून की पुस्तकों तक सीमित थी। आम आदमी पर उसका कोई विशेष असर नहीं हुआ।

आचार्य तुलसी के मन में बचपन से ही किसी कार्य-विशेष को लेकर छोटे-बड़े या ऊंच-नीच की भावना नहीं थी। कहीं से भी ऐसी भावना को अभिव्यक्ति मिलती तो उनके मन में कई प्रश्न कुलबुला उठते थे।

जिस समय आचार्यश्री ने समाज-सुधार की दृष्टि से सामाजिक कुरूद्वियों के विरोध में काम करना शुरू किया, लगभग उसी समय उनका ध्यान दलित वर्ग की दुर्दशा पर भी गया। उन्होंने देखा—एक ओर दलित वर्ग के लोग अच्छी शिक्षा से वंचित रहते हैं, दूसरी ओर उनकी मानसिकता स्वाभिमान के साथ सिर ऊंचा कर जीने की नहीं है, तीसरी ओर वे मादक और नशीली वस्तुओं का सेवन कर अपनी सेहत को बिगाड़ रहे हैं तथा आर्थिक दृष्टि से भी कमजोर हो रहे हैं। इनके कारण उनका चरित्र-बल भी उन्नत नहीं हो पाता। यदि यह वर्ग नशे की बुराई से मुक्त हो जाए तो इसकी जीवन-शैली में भी बदलाव आ सकता है।

हरिजनों में प्रथम कार्यक्रम

सन् 1949 में आचार्यश्री ने छापरा में कुछ सन्तों को गोगामेडी में हरिजनों के मोहल्ले में जाकर व्याख्यान देने का निर्देश दिया। हरिजनों की बस्ती में जाकर उपदेश देने का वह पहला ही अवसर था। सन्त अनमने-से होकर वहां गए। गांव में हलचल-सी मच गई। उधर हरिजनों में नया उत्साह जागा। वे इकट्ठे हो गए। सन्तों का व्याख्यान प्रेरक था। उससे प्रभावित हो अनेक हरिजन भाइयों ने नशा करने का त्याग किया। कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद वे लोग सामूहिक रूप से आचार्यश्री के दर्शन करने उनके प्रवास-स्थल पर पहुंचे। गांव के कुछ लोगों को मजाक सूझी। वे संभवतः व्यंग्यात्मक भाषा में बोले—‘अरे भाई! देखते क्या हो? गुरुजी के चरण छुओ।’

हरिजन लोग संकोचवश दूर खड़े थे। उनके मन में झिझक-सी थी। आचार्यश्री ने उनकी ओर इंगित करते हुए कहा—‘तुम लोग दूर क्यों खड़े हो?’ हरिजन निकट आए। उनका मन चरण-स्पर्श के लिए लालायित हो उठा। आचार्यश्री तो छुआछूत की भावना मिटाना ही चाहते थे। उन्होंने अपने चरण आगे कर दिए। एक-एक कर सभी हरिजनों ने आचार्यश्री के चरण छूकर धन्यता का अनुभव किया। दर्शक लोग उस दृश्य को देखकर स्तब्ध रह गए। समाज के लोगों में थोड़ी फुसफुसाहटें जरूर हुईं, पर उन अस्पृश्य कहलानेवाले लोगों द्वारा आचार्यश्री के प्रथम बार चरण-स्पर्श का एक क्रान्तिकारी अध्याय शुरू हो गया।

हरिजन-सम्मेलन

आचार्यश्री का प्रवास लाडनू में था। वहां कुछ सार्वजनिक कार्यक्रम आयोजित हुए। उसी शृंखला में एक हरिजन-सम्मेलन रखा गया। हरिजन लोग उत्साहित हुए। उन्होंने अपने मोहल्ले के सब लोगों तक सूचना पहुंचा दी। इधर समाज के कुछ लोग नहीं चाहते थे कि हरिजन लोग उनके धर्मस्थान में आएँ। आचार्यश्री के पास पहुंचकर वे बोले—‘गुरुदेव! आप यह क्या कर रहे हैं हरिजनों को यहां बुलाना उचित है क्या? आप इस कार्यक्रम को स्थगित करने का आदेश दें, अन्यथा हम इसका विरोध करेंगे। हरिजनों को अन्दर घुसने नहीं देंगे।’

आचार्यश्री ने शान्ति के साथ सबकी बात सुनी और उन्हें प्रतिबोध देते हुए कहा—‘हमारे प्रवास के लिए आपके द्वारा जो स्थान निर्धारित किया जाता है, वह सार्वजनिक स्थान हो जाता है। यहां आने का अधिकार सबको है। आप हरिजनों को यहां आने से रोकना चाहते हैं? आप चाहें तो हम यह स्थान खाली कर सकते हैं, पर हमारे यहां रहते किसी भी वर्ग के लोगों को आने से नहीं रोक सकते हो। समाज के लोग दुविधा में फंस गए। उनकी स्थिति सांप-छछून्दर जैसी हो गई। न तो वे आचार्यश्री से वह स्थान खाली करा सकते थे और न वहां हरिजनों को आने से रोक सकते थे क्योंकि वे उन्हें रोकते तो संभवतः आचार्यश्री स्वयं ही वह स्थान खाली कर देते। उन्हें मन मसोसकर रहना पड़ा। वहां हरिजन-सम्मेलन हुआ। हरिजन भाई-बहनों को अच्छा जीवन जीने का रास्ता मिला। लाडनू में कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जो छुआछूत जैसी सामाजिक बुराइयों के खिलाफ आन्दोलन कर रहे थे। उन लोगों को उस सम्मेलन से बल मिला। कुल मिलाकर वहां के वातावरण में लोकजागरण की दृष्टि से नई स्फुरण का प्रारंभ हो गया।

प्रवचन सुनने का अधिकार सबको

आचार्यश्री दक्षिण भारत की यात्रा पर थे। वहां प्रायः सभी गांवों/शहरों में सार्वजनिक कार्यक्रम होते थे। सार्वजनिक कार्यक्रम की सूचना पूरे गांव/शहर में दी जाती थी। एक दिन रात्रिकालीन कार्यक्रम में गांव के

हरिजन भाई प्रवचन सुनने आए। स्थानीय कार्यकर्ताओं ने सामने स्थान खाली होने पर भी उन्हें पीछे बैठने का संकेत किया। आनेवाले लोग कुछ सहम-से गए। वे संकुचित होकर पीछे जाने लगे। इस स्थिति की सूचना आचार्यश्री को मिली। उन्होंने कार्यकर्ताओं को याद किया। कार्यकर्ता आए। आचार्यश्री ने पूछा—‘आपने हमारे प्रवचन की मुनादी करवाई थी क्या?’ कार्यकर्ताओं ने स्वीकृति दी तो आचार्यश्री ने कहा—‘मुनादी करनेवालों ने यह कहा था कि प्रवचन-सभा में कौन कहां बैठेंगे? पंडाल में जो दरियां बिछी हुई हैं, वहां बैठने के अधिकारी कौन होंगे?’ कार्यकर्ता क्या बोलते। उनके सिर नीचे झुक गये।

आचार्यश्री ने कार्यकर्ताओं तथा वहां उपस्थित अन्य लोगों को समझाते हुए कहा—‘यदि आपको सार्वजनिक कार्यक्रम रखना है तो ऐसी संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर उठना होगा। हमारी सभा में कोई छोटा-बड़ा या ऊंच-नीच नहीं है। यहां सबको समान रूप से प्रवचन सुनने का अधिकार मिलना चाहिए।’

एक गांव में आचार्यश्री किसी मकान में ठहरे हुए थे। दोपहर के समय वहां कुछ हरिजन भाई आचार्यश्री के दर्शन करने के लिए आना चाहते थे, पर मकान मालिक ने उनको भीतर जाने से रोक दिया। आचार्यश्री को जानकारी मिली। वे तत्काल मकान छोड़कर बाहर आ गए। आचार्यश्री मकान से बाहर एक वृक्ष के नीचे कुर्सी लगवाकर बैठ गए और बोले—‘अपने व्यक्तिगत मकान में आने से कोई किसी को रोक सकता है, पर यहां रोकने वाला कौन है?’ हरिजन लोग आचार्यश्री के पास पहुंचे और कुछ समय उनके पास बैठे, उनका उपदेश सुन कृतार्थ हो गए।

सन् 1975 में आचार्यश्री का मर्यादा महोत्सव श्रीडूंगरगढ़ में था। वहां संस्कार-निर्माण समिति द्वारा हरिजन सम्मेलन करने का सुझाव आया। सुझाव स्वीकार कर लिया। स्थानीय कार्यकर्ता व्यवस्था में जुट गए। सम्मेलन में आस-पास के गांवों से हजारों हरिजनों के उपस्थित होने की संभावना थी। उत्साहपूर्ण वातावरण में सम्मेलन की तैयारियां होने लगीं।

सम्मेलन की निर्धारित तिथि से कुछ दिन पहले कुछ कार्यकर्ता आचार्यश्री के पास आकर बोले—‘गुरुदेव! हरिजन सम्मेलन रद्द कर दिया जाए तो ठीक रहेगा, क्योंकि गांव में वातावरण अनुकूल नहीं है। माहेश्वरी समाज के जो घर हमें यात्रियों के आवास की दृष्टि से मिले थे, वे मना कर रहे हैं।’

दलित वर्ग में काम करने वाले कुछ मुनिजन और गृहस्थ कार्यकर्ता श्रीडूंगारगढ़ के वातावरण से चिन्तित हो गए। उन्होंने भी आचार्यश्री से निवेदन किया—‘गुरुदेव! यह सम्मेलन मर्यादा-महोत्सव के बाद आयोजित किया जाए तो ठीक रहेगा।’ आचार्यश्री ने सबका निवेदन सुना, किन्तु सम्मेलन को रद्द करने या उसके दिनांक आगे बढ़ाने की बात पर अपनी सहमति नहीं दी। कार्यकर्ताओं का मनोबल कमजोर हुआ। गांव के वातावरण में उबाल आया। इतना सब कुछ होने पर भी आचार्यश्री विचलित नहीं हुए। उन्होंने स्थानीय तथा आगन्तुक कार्यकर्ताओं के निराश मन में नई आशा का संचार किया और हरिजन-सम्मेलन पूर्ण रूप से सफल रहा।

तथाकथित दलित/अछूत वर्ग के उत्थान की दृष्टि से आचार्य तुलसी ने जो क्रान्तिकारी कदम उठाए, एक बार उनका व्यापक विरोध हुआ। उसके सामने घुटने टिका दिए जाते तो अणुव्रत के दर्शन को व्यावहारिक धरातल प्राप्त नहीं होता। आचार्यश्री ने जो कुछ किया, वह सुचिन्तित था। वे जानते थे कि समाज में ऐसे लोग भी हैं जो इस प्रवृत्ति को बर्दाश्त नहीं कर पाएंगे। ऐसा हुआ भी, जब राजसमंद में सालवी-परिवारों में साधु-साध्वियों को गोचरी भेजा गया तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप में कुछ तेरापंथी परिवारों की बहनों ने कहा—‘हम साधु-साध्वियों को रसोईघर में नहीं आने देंगे।’ जिन हरिजन परिवारों का खान-पान शुद्ध था, उनके यहां गोचरी कराने पर भी समाज में चर्चा हुई।

एक बार जोधपुर के पास बुटेची गांव में साध्वियां हरिजन के घर में ठहर गईं। उस प्रसंग को लेकर पूरे गांव में बावेली मच गया। साध्वियों ने मकान बदलने के लिए आचार्यश्री की अनुमति मांगी। आचार्यश्री ने सारी स्थिति की जानकारी के बाद दिनभर उसी मकान में प्रवास करने का निर्देश

दिया। दोपहर के प्रवचन के बाद गांव के लोगों ने यह मुद्दा उठाया तो आचार्यश्री ने स्कूल, होटल, पंचायत आदि व्यवस्थाओं में एक साथ पढ़ने, उन्हीं बर्तनों में खाना खाने तथा एक दरी पर बैठने की युक्तियां प्रस्तुत कीं तो गांव के लोग निरुत्तर हो गए। वे समझ गए कि आचार्यश्री का कथन यथार्थ है और आज के युग में ये पुरातनपंथी धारणाएं चलनेवाली नहीं हैं।

सरदारशहर के पास मेघवालों का एक छोटा-सा गांव है बरडासर। आचार्यश्री उस गांव के निकट की सड़क से आगे जा रहे थे। गांववालों ने उनसे गांव में आने की प्रार्थना की। आचार्यश्री गांव में पधारे। बालू रेत के ऊंचे टीले पर बैठकर उन्होंने नशामुक्ति का उपदेश दिया। उपदेश का असर हुआ। गांववासी नशा छोड़ने के लिए खड़े होने लगे। कुछ भाइयों ने बीड़ियों के बण्डल फेंक दिए। कुछ ने शराब, मांस के त्याग किए। कुछ ने जुआ छोड़ा और किसी ने चाय तक छोड़ दी। गांव का माहौल इतना अच्छा बना कि अणुव्रती कार्यकर्ताओं ने इसे आदर्श गांव बनाने का प्रयास करने की भावना व्यक्त की।

यह वही बरडासर है, जहां आचार्यश्री ने अणुव्रत का अधिवेशन कर इस छोटे-से गांव का नाम अणुव्रत के इतिहास से जोड़ दिया और गांव का नामकरण भी बरदासर कर दिया। इस प्रकार अस्पृश्यता-निवारण का सघन अभियान चलाकर आचार्यश्री अछूतों के मसीहा बन गए।

14. पद-विसर्जन का महान आदर्श

महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी ने आजादी की लड़ाई लड़ी। बिना किसी रक्तपात के अंग्रेजों को सत्ता से बेदखल करना काफी कठिन था, किन्तु गांधी की अहिंसा में इतनी ताकत थी कि ब्रिटिश सत्ता हिल उठी। अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। देश आजाद हो गया। गांधीजी चाहते तो देश के सर्वोच्च सिंहासन पर आसीन होकर भारत की राजनीति को अभूतपूर्व मोड़ दे सकते थे, किन्तु वे पद एवं प्रतिष्ठा से बहुत ऊपर उठे हुए थे। उनके मन में सत्ता को लेकर किंचित व्यामोह था ही नहीं। उन्होंने तो कांग्रेस पार्टी के प्रमुख लोगों को भी यही सुझाव दिया कि देश को आजाद करने का उनका लक्ष्य हासिल हो गया है। अब उन्हें सत्ता से दूर रहकर अन्य रचनात्मक कार्यों में अपनी शक्ति का नियोजन करना चाहिए। काश! गांधीजी की बात समझ में आती और उनके सपनों का स्वराज्य स्थापित हो पाता।

सत्ता के प्रति अनासक्त रहना, उसकी व्यूह-रचना में नहीं फंसना, उससे दूर रहकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास करना एक ऊंची बात है। पर बाईस वर्ष की अवस्था में किसी बड़े संगठन के सर्वोच्च पद पर काबिज होना, अपने दायित्व का कल्पना से अधिक कुशलता के साथ निर्वहन करना, अपने संगठन को अभूतपूर्व ऊंचाइयों तक ले जाने का सपना देखना, उस स्वप्न को साकार करने की दिशा में उपस्थित हर अवरोध और विरोध को सफलता की सीढ़ी बनाकर ऊर्ध्वारोहण करते रहना, दो सौ वर्ष प्राचीन संगठन को नए युग के अनुरूप ढालना, अपनी नीतियों में समय के मुताबिक बदलाव लाना, संगठन के सदस्यों को निरन्तर मोटीवेट करते रहना, हर स्थिति में अपने निर्धारित मिशन को आगे बढ़ाते रहना और अपने

पुरोगामियों से भी बहुत अधिक सफलतापूर्वक संगठन का संचालन करना उससे भी महत्वपूर्ण बात है।

वर्तमान युग में कोई व्यक्ति साठ वर्षों तक अनवरत प्रगति के शिखरों पर आरूढ़ होकर, संगठन में विकास के नए-नए क्षितिज खोलकर, संगठन के सदस्यों का अखण्ड विश्वास प्राप्त करके, प्रभावी कर्तृत्व की छाप छोड़कर, सब दिशाओं में बढ़ते हुए वर्चस्व की स्थिति में शिखर पर आरूढ़ होकर तथा छह दशकों के अनुभवों से परिपुष्ट नेतृत्व की क्षमता होने पर भी अचानक सुनियोजित रूप में अपने पद का विसर्जन कर निस्संग बन जाए, इस वैशिष्ट्य को अभिव्यक्ति देने वाला कोई प्रतिमान नहीं है। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में ऐसा आदर्श उपस्थित किया आचार्य तुलसी ने। महात्मा गांधी के बारे में अल्बर्ट आइंस्टीन ने लिखा है कि आनेवाली पीढ़ियों को विश्वास करने में कठिनाई होगी कि उनके जैसा कोई हाड़-मांस से बना मनुष्य इस धरा पर चला था। इसी प्रकार हमारे देश की भावी पीढ़ियों को भी संभवतः यह विश्वास नहीं हो पाएगा कि इतने तेजस्वी, यशस्वी और प्रभावी आचार्य ने सब तरह से सक्षम होने पर भी अन्तःकरण की इच्छा से अपना शेष जीवन अध्यात्म या मानवता की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। क्रिश्चिनिटी का इतिहास बताता है कि सन् 1415 में बारहवें पोप ग्रेगरी ने स्वस्थ हालत में पद का त्याग कर अपना जीवन अध्यात्म की साधना में लगा दिया। शताब्दियों, सहस्राब्दियों में कोई-कोई समय ही आता है—जब ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं घटित होती हैं।

प्रस्तुत घटना से जुड़ा हुआ एक प्रसंग यह भी हो सकता है—आचार्यश्री एक बार दिल्ली में प्रवास कर रहे थे। समाजवादी नेता आचार्य कृपलानी, हरिभाऊ उपाध्याय आदि कुछ व्यक्ति आचार्यश्री के उपपात में बैठे थे। वार्तालाप के दौरान वे बोले—आचार्यजी! आप अपने सम्प्रदाय का भार किसी साधु को सौंप दें और अध्यात्म का नेतृत्व करें। आप ऐसा करने में समर्थ हैं। आचार्य तुलसी सन् 1936 में आचार्य बने और सन् 1994 में अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ को आचार्य पद का दायित्व सौंपकर निश्चिंत हो गए। आचार्यश्री ने अपने शासन-काल में जितना कार्य

किया, संभवतः उसका 25 प्रतिशत ही सामने आ सका है। जैसे मनुष्य के मस्तिष्कीय रहस्य डार्क एरिया में रहते हैं, वैसे ही आचार्यश्री के कार्य भी अज्ञात हैं। इन शताब्दियों में जैन-परम्परा के किसी आचार्य ने इतना प्रभावी और नवोन्मेषवाला नेतृत्व किया है क्या? यह शोध का विषय है।

15. सम्मान, पुरस्कार और अलंकरण

व्यक्ति-निर्माण, समाज-सुधार, साम्प्रदायिक सौहार्द तथा राष्ट्रीय उत्थान की दृष्टि से आचार्य तुलसी के मौलिक चिन्तन और उनके द्वारा प्रदत्त अवदानों को जनता ने सर-आंखों पर चढ़ाया तो समाज और राष्ट्र ने भी पूरी गरिमा के साथ उनको स्वीकार किया। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा—‘लिविंग विद परपज।’ उस ग्रन्थ में उन्होंने चौदह महापुरुषों के बारे में लिखा है, जिनमें एक आचार्य तुलसी भी हैं। जिस समय ग्रन्थ लिखा गया, उसके तेरह पात्र दिवंगत हो चुके थे। एकमात्र आचार्य तुलसी ही ऐसे महापुरुष थे, जो लोकमंगल की भावना से अभिप्रेरित होकर देश में भ्रमण कर रहे थे और जन-जन को जीने की कला सिखा रहे थे।

आचार्य तुलसी के आचार्य-काल के पच्चीस वर्षों की सम्पन्नता पर 1962 में धवल समारोह आयोजित किया गया। धवल समारोह के द्वितीय चरण के आयोजन में भारत के उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन उपस्थित हुए। उन्होंने एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर आचार्य तुलसी को सम्मानित किया।

सन् 1971 में आचार्य तुलसी के अप्रतिम कर्तृत्व की वर्धापना करते हुए उन्हें युगप्रधान की उपाधि से अलंकृत किया गया। सन् 1974 में अणुव्रत विहार, दिल्ली में षष्टिपूर्ति समारोह में राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद ने काव्य-संग्रह आचार्य तुलसी को उपहृत कर उनका सम्मान किया। इसी प्रकार सन् 1973 में संसद भवन में और सन् 1974 में लाल किले में राष्ट्रीय स्तर पर आचार्य तुलसी का स्वागत-अभिनन्दन किया गया।

सन् 1986 में आचार्य तुलसी के आचार्य-काल के पचास वर्ष की सम्पन्नता के उपलक्ष्य में 'अमृत महोत्सव' का आयोजन किया गया। उस अवसर पर राजस्थान विद्यापीठ की ओर से आचार्य तुलसी को 'भारत ज्योति' अलंकरण से नवाजा गया, जिसे राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह द्वारा उन्हें समर्पित किया गया।

सन् 1993 में तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान मान्य विश्वविद्यालय द्वारा आचार्य तुलसी को वाक्पति की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। सम्मान का यह उपक्रम संस्थान के दीक्षान्त समारोह में वाराणसी में सम्पादित किया गया था, पर वहां आचार्य तुलसी स्वयं उपस्थित नहीं हो सके, इसलिए संस्थान के कुलपति प्रो. रमाशंकर त्रिपाठी एवं बौद्ध भिक्षु लामा लोछुन शास्त्री जैन विश्वभारती, लाडनूं पहुंचे। वहां 14 जून 1993 को एक सार्वजनिक कार्यक्रम में आचार्य तुलसी को विधिवत अलंकरण प्रदान किया गया।

सन् 1993 में राष्ट्रीय एकीकरण समिति दिल्ली की ओर से प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंहराव ने आचार्य तुलसी को 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' प्रदान किया।

24 जुलाई 1995 को महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन, उदयपुर द्वारा आचार्य तुलसी को 'हकीम खां सूर' सम्मान प्रदान किया गया। इस सम्मान को देने महाराणा अरविन्दसिंहजी स्वयं लाडनूं आए।

आचार्य तुलसी के विराट व्यक्तित्व की तुलना इस प्रकार के सम्मान, पुरस्कार और अलंकरणों से नहीं हो सकती। वे सम्मान तथा अलंकरण आचार्य तुलसी से जुड़कर स्वयं गौरवान्वित हो गए।

परिशिष्ट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा : जीवन-परिचय

बीसवीं सदी के प्रख्यात धर्मनायक, लाखों लोगों की आस्था के केन्द्र, गति, प्रकाश और ऊर्जा के पर्याय, महामानव आचार्यश्री तुलसी की एक विलक्षण कृति है—संघमहानिदेशिका महाश्रमणी असाधारण साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्यों के निर्देशन में साध्वी-समाज का पांच दशकों तक कुशल नेतृत्व कर इन्होंने एक गौरवपूर्ण कीर्तिमान बनाया है। शुभ्रवसना, ज्योति-शक्तिस्वरूपा ये एक अप्रमत्त साधिका हैं जिनमें अध्यात्मनिष्ठा, गुरुनिष्ठा और संघनिष्ठा की त्रिवेणी प्रवाहित है।

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का जन्म 22 जुलाई सन् 1941 को कोलकाता महानगर में हुआ। इनके पिता का नाम सूरजमलजी बैद एवं माता का नाम छोटी बाई था। बालिका कला बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि, विवेकशील एवं संकोची स्वभाव की थी। 15 वर्ष की आयु (सन् 1956) में उन्होंने पारमार्थिक शिक्षण संस्था में प्रवेश किया। लगभग 4 वर्षों की प्रशिक्षण अवधि के दौरान कला ने विनम्र एवं मेधावी मुमुक्षु के रूप में अपना स्थान बनाया।

गुरु पूर्णिमा का पवित्र दिन (8 जुलाई, सन् 1960) उम्र के 19वें पायदान पर, तेरापंथ की उद्गम स्थली केलवा में नवमाधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी से चारित्र ग्रहण किया। गुरु की पवित्र सन्निधि में व्याकरण, कोश, तर्कशास्त्र, आगम, दर्शन आदि अनेक विद्या-शाखाओं का तलस्पर्शी अनुशीलन कर सप्तवर्षीय संघीय पाठ्यक्रम में विशेष योग्यता प्राप्त की। अध्ययन-अध्यापन और लेखन के साथ हजारों पद्य परिमाण कण्ठस्थ कर साध्वियों की अग्रिम पंक्ति में स्थान बना लिया।

12 जनवरी सन् 1972, गंगाशहर की गौरवशाली धरा पर आचार्यश्री तुलसी ने इन्हें साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्त किया। उस समय इनकी अवस्था मात्र 30 वर्ष थी। तब से लेकर अनवरत तेरापंथ की अष्टम साध्वीप्रमुखा के रूप में गुरुत्रयी (श्री तुलसी-महाप्रज्ञ-महाश्रमण) के पावन निर्देशन में ये विशाल साध्वी समुदाय का गरिमापूर्ण नेतृत्व कर रही हैं।

इनके बहुआयामी व्यक्तित्व, नेतृत्व और कर्तृत्व को विविध रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

प्रभावी प्रवक्ता

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी एक प्रभावशाली वक्ता हैं। इनका वक्तव्य एक-एक वाक्य को प्रेरणा-दीप बनाने वाला प्रतीत होता है। शब्दों का सहज प्रवाह, रोचक उदाहरण, संक्षिप्तता और नवीनता इनके वक्तृत्व की विरल विशेषताएं हैं। अनेकशः अनुभव होता है कि एक बार साध्वीप्रमुखाश्री का प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति सदा के लिए इनके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाता है। विशेष संघीय उपक्रम हो या सार्वजनिक कार्यक्रम, सभा-संस्था के अधिवेशन हों या दैनिक प्रवचन, गंभीर वक्तृत्व-शैली श्रोताओं के अन्तःकरण को परिवर्तन की दिशा में प्रस्थित कर देती है।

प्रबुद्ध साहित्यकार

साध्वीप्रमुखाश्रीजी साहित्य-क्षितिज पर एक प्रौढ़ लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्राञ्जल भाषा, प्रभावी लेखन शैली, कसे हुए वाक्य तथा तथ्य-कथ्य की पूर्ण अभिव्यक्ति देने वाला शब्द-शिल्पन इनकी सृजन चेतना के अपूर्व वैशिष्ट्य हैं। भाव, भाषा और शैली का यह अद्भुत सौष्ठव पाठक को अथ से इति तक बांधे रखता है। गद्य, पद्य, इतिहास, उपन्यास, यात्रावृत्त, जीवनवृत्त आदि विविध विधाओं में इनकी लेखनी निर्बाध रूप से प्रवाहित हुई है।

इस साहित्यिक प्रतिभा ने न केवल सामान्य पाठकों को बल्कि देश के प्रसिद्ध साहित्यकारों, मूर्धन्य लेखकों और विचारकों को भी प्रभावित किया है।

नैसर्गिक कवयित्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी को निसर्गतः काव्य प्रतिभा प्राप्त है। इनकी कविताओं में संवेदनशीलता, सौन्दर्य बोध, क्रान्ति की गूँज और भक्ति का प्रवाह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। 'सांसों का इकतारा' तथा 'धूप-छांव' दो प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं, जिनमें विविध विषयस्पर्शी 200 से अधिक कविताओं का समाहार है। इनके द्वारा रचित शताधिक गीतों में भक्ति-समर्पण के साथ-साथ युगीन समस्याओं का समाधान भी समाहित है। संस्कार-निर्माण एवं नारी सशक्तीकरण के सन्दर्भ में भी इन्होंने अन्तःस्पर्शी गीत रचे हैं।

'तुलसी-प्रबोध' एवं 'विकास की वर्णमाला' इनकी गागर में सागर तुल्य सरस गेय कृतियां हैं।

कुशल संपादिका

लेखिका और कवयित्री होने के साथ-साथ साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी ख्यातिप्राप्त संपादिका भी हैं। आचार्यश्री तुलसी ने हिन्दी, संस्कृत और राजस्थानी भाषा में तत्त्वविद्या, दर्शन, योग, काव्य-साहित्य, जीवन-चरित्र, आध्यात्मिक-औपदेशिक गीतों से सम्बद्ध शताधिक ग्रन्थों की सर्जना की। उनमें अधिकांश ग्रन्थों का संपादन साध्वीप्रमुखाजी ने किया। तुलसी जन्म शताब्दी (सन् 2014) के अवसर पर तुलसी वाङ्मय को नए परिवेश में प्रस्तुत कर एक ऐतिहासिक कार्य किया। वाङ्मय में समाहित आचार्यश्री तुलसी की आत्मकथा 'मेरा जीवन : मेरा दर्शन' (25 खण्ड) को कालजयी ग्रन्थमाला माना जा सकता है। आगम सम्पादन कार्य में भी संपृक्त रहीं। विशालकाय भगवती सूत्र की जोड़ (7 खण्ड) का श्रमसाध्य सम्पादन इनकी स्थितप्रज्ञता का प्रतीक है।

व्यक्तित्व निर्मात्री

साध्वीप्रमुखाश्रीजी का आध्यात्मिक व्यक्तित्व चतुर्विध धर्मसंघ के अनेक व्यक्तियों को नई दृष्टि और नई दिशा देने वाला है। साध्वियों की प्रतिभा को निखारकर, युगानुरूप उन्हें आगे बढ़ाकर, संस्कारों की

सुरक्षा-संवर्धन कर ये अपना दायित्व निर्वहन कर रही हैं। संघीय धरातल पर साध्वी-समाज और महिला-समाज के अनेक सक्षम व्यक्तित्व इनके कर्तृत्व की फलश्रुति है। साध्वीप्रमुखाजी ने नारी की नैसर्गिक विशेषताओं, क्षमताओं और सेवाओं को उभारकर उसके व्यक्तित्व को अपरिमेय ऊँचाई प्रदान की है। अस्तित्व-बोध से लेकर दायित्व-बोध तक उसे प्रशिक्षित किया है। क्रान्त विचारों और सशक्त लेखनी द्वारा ये महिला समाज का आध्यात्मिक पथदर्शन कर रही हैं।

प्रशासन एवं प्रबन्धन-वेत्ता

साध्वीप्रमुखाजी का प्रशासन एवं प्रबंधन कौशल बेजोड़ है। इनकी मृदु अनुशासना साध्वियों के विकास का पथ प्रशस्त करती है। अयाचित कृपा, वत्सलता और आत्मीयतापूर्ण प्रेरणा इनकी प्रशासन शैली के आधारभूत अंग हैं। इसी प्रशासन-कौशल की बदौलत ये चतुर्विध धर्मसंघ की आस्था धाम बनी हुई हैं।

प्रशासनिक दक्षता के साथ-साथ इनकी प्रबन्धन पटुता भी विलक्षण है। समय-प्रबन्धन, कार्य-प्रबन्धन एवं व्यक्ति-प्रबन्धन में इनका वैशिष्ट्य विख्यात है। सद्यः स्फुरित मनीषा, स्फूर्ति और सुनियोजित कार्यशैली ने इनके जीवन में कामयाबियों के कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

संघीय सम्मान

तेरापंथ के महान तेजस्वी गुरुत्रयी युग में अपनी विनम्र सेवाएं समर्पित कर साध्वीप्रमुखाजी कृतार्थता का अनुभव कर रही हैं। समय-समय पर युगद्रष्टा आचार्यों के मुख कमल से निःसृत उद्गार इनके वजनदार व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी इस अद्वितीय कृति को **महाश्रमणी** (9 सितम्बर सन् 1989) और **संघमहानिदेशिका** (8 नवम्बर सन् 1991) जैसे महनीय पदों से तथा वर्तमान अनुशास्ता ने **असाधारण साध्वीप्रमुखा** (1 अगस्त 2016) एवं 'अहिंसा यात्रा को विभूषित करने वाली विभूति' (6 दिसम्बर 2020) के रूप में प्रतिष्ठित किया।

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा सम्पादित साहित्य

(तुलसी वाङ्मय)

आत्मकथा साहित्य

1. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
2. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
3. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
4. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
5. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
6. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
7. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
8. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
9. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
10. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
11. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
12. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
13. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
14. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
15. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
16. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
17. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
18. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
19. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
20. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

21. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
22. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
23. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
24. मेरा जीवन : मेरा दर्शन
25. मेरा जीवन : मेरा दर्शन

गद्य साहित्य

26. महावीर : जीवन और दर्शन
27. हे प्रभो! यह तेरापंथ
28. तेरापंथ का प्राणतत्त्व
29. क्रान्तिकारी आचार्य भिक्षु
30. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य
31. महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी
32. अध्यात्म : अन्तस का स्पर्श
33. निर्ग्रन्थ प्रवचन ही परम सत्य है
34. अर्हत ने कहा
35. जैन दर्शन : आत्म दर्शन
36. जैन तत्त्वविद्या
37. अहिंसा : अमृत का महासागर
38. धम्मं सरणं पवज्जामि
39. जैन जीवनशैली
40. निर्माण : नए मानव का
41. प्रेक्षाध्यान : अध्यात्म का सोपान
42. अणुव्रत : गति प्रगति
43. अणुव्रत के आलोक में
44. अणुव्रत : नैतिकता का शंखनाद
45. शिक्षा : रूपान्तरण की प्रक्रिया
46. सन्देश : देश के नाम

47. दोनों हाथ : एक साथ
48. कुहासे में उगता सूरज
49. सार्थकता संवाद की
50. मेरी अनुभूतियां : मेरी कृतियां
51. सीख सुमत
52. तुलसी साहित्य की बोधकथाएं

काव्य साहित्य

53. माणक-डालिम-चरित्र
54. कालूयशोविलास-1
55. कालूयशोविलास-2
56. मगन चरित्र
57. सेवाभावी मुनि चम्पक
58. लाडां-वदना-सुजस
59. भरत-मुक्ति
60. चन्दन की चुटकी भली
61. आत्मोदय की ओर
62. आत्मा के आसपास
63. श्रावक-संबोध
64. पण्णा समिक्खए
65. तेरापंथ-प्रबोध : सम्बोध
66. नन्दन निकुंज
67. सोमरस
68. सुधारस
69. तुलसी-पदावली

संस्कृत साहित्य

70. जैनसिद्धान्तदीपिका
71. भिक्षुन्यायकर्णिकामनोनुशासने

72. काव्यामृतम्
73. निबन्धनिकुरम्बम्

पत्र : सन्देश : संवाद साहित्य

74. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-1
75. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-2
76. पत्र : साधु-साध्वियों के नाम-3
77. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-1
78. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-2
79. सन्देश : श्रावक समाज के नाम-3
80. सन्देश : राष्ट्र नेताओं के नाम
81. संवाद : शिखर पुरुषों के साथ
82. संवाद : प्रबुद्ध पुरुषों के साथ
83. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश - 1
84. तुलसी पद्य साहित्य : सन्दर्भ कोश - 2

जय साहित्य

85. भगवती जोड़ - 1
86. भगवती जोड़ - 2
87. भगवती जोड़ - 3
88. भगवती जोड़ - 4
89. भगवती जोड़ - 5
90. भगवती जोड़ - 6
91. भगवती जोड़ - 7
92. झीणी चर्चा (सानुवाद)
93. आराधना (सानुवाद)

साध्वीप्रमुखाजी द्वारा आलेखित साहित्य

यात्रा साहित्य

1. रण की गोद में
2. जा घर आए संत पाहुने
3. तीन समुद्रों के तट पर
4. नए प्रदेश : नए अनुभव
5. जोगी तो रमता भला
6. बहता पानी निरमला
7. पांव-पांव चलने वाला सूरज
8. पंजाब में अध्यात्म का उजाला
9. संत चरण गंगा की धारा
10. जब महक उठी मरुधर माटी
11. परस पांव मुसकाई घाटी
12. गांधी के गुजरात में
13. धर कूंचां : धर मजलां
14. अरावली के अंचल में
15. उत्सव : आधी शताब्दी का
16. अमृत घट छलके
17. भारत ज्योति बनाम आत्मज्योति
18. अमृत पुरुष : जन्मभूमि में
19. यमुना के तीर पर
20. परिक्रमा प्रकाश की

गद्य साहित्य

21. अकथ कथा गुरुदेव की
22. लिखन बैठि जाकी छवि
23. करत-करत अभ्यास
24. कदम-दर-कदम
25. आधी दुनिया
26. बदले युग की धारा
27. विकास पुरुष ऋषि हेम
28. स्मृति के दर्पण पर
29. गणं सरणं गच्छामि
30. आयरियं सरणं गच्छामि
31. धम्मो दीवो पइट्ठा
32. एस धम्मे धुवे
33. सोपान निर्माण के
34. सत्यं शिवं सुन्दरं
35. सफर सम्पादन का - 1
36. सफर सम्पादन का - 2
37. प्रेरणा का दरिया

काव्य साहित्य

38. सांसों का इकतारा
39. धूप-छांव
40. बिन बाती बिन तैल
41. तुलसी-प्रबोध
42. विकास की वर्णमाला

संस्मरण साहित्य

43. प्रेरणा : पल दो पल की - 1
44. प्रेरणा : पल दो पल की - 2
45. प्रेरणा : पल दो पल की - 3

46. प्रेरणा : पल दो पल की – 4

47. प्रेरणा : पल दो पल की – 5

48. प्रेरणा : पल दो पल की – 6

पत्र साहित्य

49. धरोहर अक्षरों की – 1

50. धरोहर अक्षरों की – 2

51. धरोहर अक्षरों की – 3